संस्कृत साहित्य का इतिहास

(वैदिक खण्ड)

डॉ० प्रीतिप्रभा गोयल

संस्कृत साहित्य का इतिहास

(वैदिक खण्ड)

डॉ॰ प्रीतिप्रभा गोयल
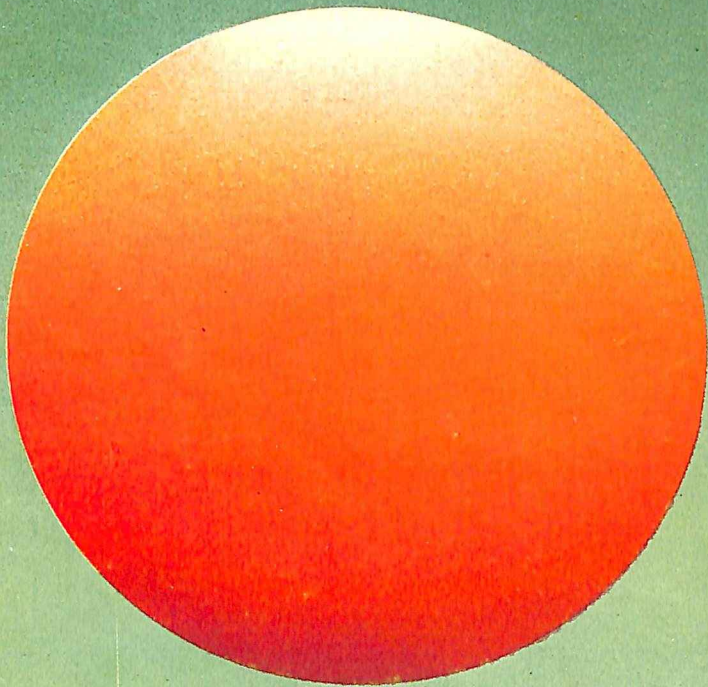
संस्कृत साहित्य का इतिहास

(वैदिक खण्ड)

लेखक

डॉ. प्रीति प्रभा गोयल

सहाचार्या, संस्कृत विभाग

निदेशिका, के. एन. कॉलेज (सेवानिवृत्त)

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय

जोधपुर

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

प्रकाशक :

राजस्थानी ग्रन्थागार

प्रकाशक एवं वितरक

सोजती गेट, जोधपुर (राज.)

कार्यालय : 623933

निवास : 432567

ISBN–81–86103–37–6

प्रथम संस्करण- 1999

मूल्य : एक सौ पचास रुपये मात्र।

कम्प्यूटरीकरण :

सुदर्शन कम्प्यूटर सिस्टम

जोधपुर

मुद्रक :

आदित्य ऑफसेट

दिल्ली

SANSKRIT SAHITYA KA ITIHAS

(VEDIK KHAND)

— Dr. Preeti Prabha Goel

Published by Rajasthani Granthagar, Jodhpur

First Edition 1999 **Rs. 150.00**

विषयानुक्रम

वेदमूर्ति, ऋषिकल्प, स्वनामधन्य

(स्वर्गीय) डॉ. **सुधीरकुमार गुप्त** की

पावन स्मृति में विनयावनत श्रद्धाञ्जलि

प्राक्कथन

मेरी एक पस्तक "संस्कृत साहित्य का इतिहास" 1987 में प्रकाशित हुई थी। सम्पूर्ण भारत, विशेषतः उत्तर भारत मे वह पुस्तक छात्रों और अध्यापकों में एक सी लोकजिय हुई और एक वर्ष में ही अप्राप्य भी हो गई। तब से प्राध्यपकों, छात्रों और सुधी पाठकों का निरन्तर आग्रह रहा कि वह पुस्तक पुनः प्रकाशित हो। अपनी एक अन्य पुस्तक की व्यस्तता के कारण मै इस ओर ध्यान ही न दे सकी। पहली पुस्तक में अनेंक सहयोगियों ने विभिन्न नए स्थल जोड़ने तथा विस्तार करने के भी सुझाव दिए थे। अतः मैने उस पुस्तक को सर्वथा नवीन रूप मे प्रस्तुत करने की दृष्टि से इसके दो खण्ड कर लिए—वैदिक एवं लौकिक। संस्कृत साहित्य के इतिहास का लौकिक खण्ड गत वर्ष प्रकाशित हो चुका है और प्रशंसित हुआ है।

अब यह वैदिक खण्ड आप सबके समक्ष प्रस्तुत है। संस्कृत वैदिक साहित्य के प्रत्येक अंश की तर्कसम्मत व्याख्या एवं विभिन्न देवताओं का मन्त्र उद्धरण सहित परिचय इस खण्ड की विशेषता है।

गत लगभग सौ वर्षों में अनेक स्वनामधन्य लेखकों ने इस विषय पर विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उन लेखकों के विचारों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मेरी पुस्तक पर अवश्य हुआ होगा। उस सभी के प्रति मेरा हार्दिक आभार। पुस्तक के शोभापूर्ण प्रकाशन के लिए राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, के संचालक श्री राजेन्द्र सिंघवी धन्यवाद एवं बधाई के पात्र है। आशा है, संस्कृत साहित्य के इतिहास का वह वैदिक खण्ड सभी पाठकों की अपेक्षा के अनुरूप होगा। कृपया मेरी त्रुटियों तथा पुस्तक की न्यूनताओं से अवश्य अवगत कराएँ।

इति शम्

"आशीर्वाद"
पावटा बी रोड,
जोधपुर — 342010

प्रीति प्रभा गोयल

संस्कृत साहित्य का इतिहास
(वैदिक खण्ड)

विषय प्रवेश

संस्कृत भाषा विश्व की समस्त परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम है। हमारे राष्ट्र भारत की यह एक अनुपमेय अमूल्य निधि है। वस्तुतः संस्कृत भाषा भारतीयों की प्राणभूत भाषा है। भारतीय मनीषा का समस्त चिन्तन, मनन, गवेषण तथा लौकिक-अलौकिक सभी अनुभूति इसी संस्कृत भाषा में समाहित है। इस भाषा का इतिहास कम से कम पाँच सहस्र वर्षो का है। तब से आज तक भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन को यह भाषा निरन्तर अनुप्राणित करती आई है। भारत में चतुर्दिश आज भी संस्कृत का बहुल एवं विविध प्रयोग पाया जाता है। संस्कृति तथा सभ्यता के उषःकाल में सप्तसिन्धु के तट पर मानव जीवन के विभिन्न संस्कारों को किए जाते समय भारतीय आर्यों ने जिन मन्त्रों का उद्घोष किया था, ऋग्वेद के उन ही मन्त्रों से आज भी पूरे भारत में तत्तत् संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं। सभी भारतीय प्रान्त भाषाओं की जननी संस्कृत है। उत्तर भारतीय हिन्दी आदि भाषाएँ तो संस्कृत की साक्षात् पौत्रियाँ, परपौत्रियाँ हैं ही, दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत शब्दों की बहुलता है। किसी किसी दक्षिण भारतीय भाषा में तो पचास प्रतिशत से भी अधिक शब्द संस्कृत के तत्सम रूप ही हैं। आज भी भारतीय विधिशास्त्र का मूल आधार संस्कृत के स्मृति ग्रन्थ ही हैं। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति को ही अधिकांशतया आधार बना कर वर्तमान भारतीय विधिशास्त्र मान्य हुआ है। पाश्चात्य जगत् में संस्कृत भाषा का ज्ञान और प्रचार बढ़ने के बाद ही भाषाविज्ञान नामक विषय समुचित रुप से स्थापित हो सका। भाषाविज्ञानशास्त्रियों ने सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माणकर्त्ताओं के समग्र वर्ग को भाषा की दृष्टि से दो खण्डों में विभाजित किया था—आर्यभाषा तथा सेमेटिक भाषा। आर्यभाषा खण्ड में सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध भाषा संस्कृत ही है।

संस्कृत भाषा के विकास के दो रूप उपलब्ध होते हैं—वैदिक भाषा तथा लौकिक भाषा। वैदिक संस्कृत भाषा में वेदों की रचना हुई तथा लौकिक संस्कृत भाषा में रामायण, महाभारत तथा परवर्ती विपुल साहित्य रचा गया है। वैदिक भाषा तथा लौकिक भाषा के मध्य की कड़ी ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा है, जिसमें शब्दों के कुछ प्रयोग संहिताओं के समान हैं तो अन्य कतिपय प्रयोग लौकिक संस्कृत भाषा के भी हैं। महर्षि यास्क के निरुक्त में भी यही मध्यकालीन भाषा है। वैदिक काल में संस्कृत भाषा धार्मिक कार्यो तथा दैनन्दिन वार्तालाप-दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होती थी।

वार्तलाप में प्रयुक्त होने के कारण कण्ठभेद, स्वरभेद आदि अनेक भिन्नताओं से भाषा में अनेक परिवर्तन आते गए। भाषा में इस परिवर्तनगत अव्यवस्था के रोकने के लिए वैयाकरणों ने अनेक नियमों की रचना की। किन्तु सतत परिवर्तनशील भाषा को एक नितान्त व्याकरणसमम्त रुप देने का श्रेय पाणिनि को ही है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ की रचना की और भाषा के लिए निश्चित नियमों का विधान कर दिया। कात्यायन (वररुचि) ने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिक रचे और पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा वार्तिकों पर महाभाष्य की रचना की। वररुचि तथा पतञ्जलि ने आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन करके पाणिनि के नियमों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की थी। यही वह समय था, जब इस भाषा ने 'संस्कृत' नाम प्राप्त किया। संस्कृत शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही यही है—परिष्कृत, निर्दोष, शुद्ध, अलंकृत। दण्डी (सप्तम शती) ने उस समय सर्वसाधारण में प्रचलित प्राकृत भाषा से भेद स्पष्ट करने के लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग भाषा के लिए स्पष्टतः किया है—'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः'—(काव्यादर्श 1/33) अर्थात् '(पाणिनि आदि) महर्षियों के द्वारा अनुशासित देव भाषा को संस्कृत कहते हैं।' इस प्रकार संस्कृत भाषा वैदिक भाषा के व्यावहारिक रूप का परिष्कृत संस्करण ही है। भारतीयों ने जिस भाषा को अशुद्धि, अपभ्रंश, अपशब्द तथा व्यवहारजन्य दोषों से पृथक् करके परिष्कृत रूप में व्यवहृत किया, उसी को संस्कृत भाषा की संज्ञा प्रदान की गई। इसी संस्कृत भाषा को देवभाषा, देववाणी, गीर्वाणवाणी, गीर्वाणगीः आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। 'विद्वांसो हि देवाः'—विद्वानों को देवता कहते हैं। इसी आधार पर संस्कृत को देवभाषा कहा गया। रामायणोत्तर काल में इस संस्कृत भाषा की क्रमशः बहुत उन्नति हुई। धार्मिक किंवा लौकिक सभी प्रकार के विषयों का इसमें पर्याप्त विवेचन हुआ। काव्यकला तथा दार्शनिक अभिव्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर समन्वय इस भाषा में दीख पड़ता है। ज्ञान तथा विज्ञान का कोई पक्ष अथवा अंग ऐसा नहीं है जो इस भाषा से अछूता छूट गया हो।

पाणिनि आदि ऋषियों के द्वारा व्याकरण सम्मत बनाई गई संस्कृत भाषा का उपयोग दैनन्दिन वार्तालाप में होता था या नहीं? संस्कृत केवल विद्वद्वर्ग की भाषा थी, अथवा जनसाधारण भी इसका प्रयोग करता था?—इन प्रश्नों को लेकर पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में अनेक ऊहापोह चलते रहे हैं। किन्तु वस्तुतः तो इन प्रश्नों का उठना ही निराधार था। यह निर्विवाद ही है कि प्राचीन युग में संस्कृत जनसामान्य में व्यवहृत भाषा थी; इसका प्रयोग दैनन्दिन वार्तालाप में किया जाता था। इसके समर्थन में अनेकानेक तथ्य उपलब्ध होते हैं। यास्क (लगभग 700 ईसा पूर्व) ने संस्कृत को भाषा (सामान्य बोलचाल का माध्यम) कहा है और वैदिक संस्कृत से उसको पृथक् कहा है।[1] पाणिनि (पाँचवी शती ईसा पूर्व) ने दूर से पुकारते समय अन्तिम स्वर के प्लुत किए जाने का विधान किया है।[2] प्लुत प्रयोग के इस नियम की सार्थकता ही तब सिद्ध होती है जब वह भाषा वस्तुतः बोली जाती हो। ग्रन्थ मात्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा में पाणिनि जैसे मनीषी वैयाकरण प्लुत का विधान न करते। पाणिनि ने वैदिक भाषा के लिए 'छन्दस्' तथा लोक प्रचलित भाषा के

1. निरुक्त 1 / 2 — 'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम् च।

2. अष्टाध्यायी 8 / 2 / 84 — दूराद्धूते च।

लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग करके दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर दिया है ।[1] सामान्य बोलचाल के भी अनेक मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिए हैं यथा—हस्ताहस्ति (हाथापाई), केशाकेशि (एक दूसरे के केश खींच कर लड़ना), दण्डादण्डि (लाठी लाठा) आदि । वररुचि (4 थी शती ईसा पूर्व) ने अपने वार्तिकों से भी यह स्पष्ट कर दिया कि लोकप्रचलित भाषा को आधार मान कर ही व्याकरण की रचना हुई ।[2] पतञ्जलि तक के समय में आए हुए अनेक नवीन शब्दों की प्रक्रिया भी महाभाष्य में स्पष्ट की गई है । समान अर्थ प्रगट करने वाले भिन्न भिन्न शब्दों का भिन्न भिन्न जनपदों में नियत प्रयोग ऐसा ही उदाहरण है ।[3] पतञ्जलि ने एक रोचक संवाद का भी उल्लेख किया है, जिससे सिद्ध होता है कि एक वैयाकरण की अपेक्षा एक रथ हांकने वाले सूत जैसे सामान्य व्यक्ति को प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति और सही प्रयोग का अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक ज्ञान था ।[4] संस्कृत वैयाकरणों के इस क्रमिक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय संस्कृत सामान्य जन के बोलचाल की ही भाषा थी । किन्तु भाषागत अनिवार्य परिवर्तनों के फलस्वरूप संस्कृत शनैः शनैः केवल शिष्ट वर्ग की भाषा बनती गई और जनसामान्य उस के परिवर्तित रूप प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि का प्रयोग करने लगे । पाश्चात्य विद्वान् भी इस विषय पर एकमत हैं कि रामायण के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी किन्तु उसका प्रयोग अधिकांशतया द्विजवर्ग ही किया करता था । वाल्मीकि रामायण में हनुमान् जब अशोक वाटिका में सीता को खोज लेते हैं, तो इसी ऊहापोह में पड़ जाते हैं कि वे किस भाषा में सीता से वार्तालाप करें । यदि ब्राह्मणों की भाँति संस्कृत भाषा का प्रयोग करें तो कहीं उन्हें छद्मवेषधारी रावण समझ कर सीता भयभीत न हो जाएं ।[5] अन्ततोगत्वा अनेक सोच विचार के पश्चात् हनुमान् संस्कृत भाषा में वार्तालाप करने का ही निश्चय करते हैं ।[6] प्रथम शती ईस्वी में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक एवं कवि हुए । बौद्ध धर्म के अधिकांश ग्रन्थ पाली भाषा में हैं । किन्तु अश्वघोष ने बौद्ध धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जिन महाकाव्यों का प्रणयन किया, उनमें प्राकृत भाषा का अवलम्बन न करके संस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया । जिससे सामान्यजन एवं शिष्टवर्ग सभी में उन सिद्धान्तों का एक सा प्रचार-प्रसार हो सके ।

---

1. अष्टाध्यायी 2 / 4 / 39 बहुलं छन्दसि ।
अष्टाध्यायी 3 / 2 / 108 भाषायां सदवसश्रुवः ।

2. महाभाष्य — प्रथम आह्निक — लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ।

3. महाभाष्य — प्रथम आह्निक — ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते ।
तद्यथा — शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति,...... हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्यमेषु, गमिमेवत्वार्याः प्रयुञ्जते । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु ।

4. अष्टाध्यायी 2 / 4 / 56 — पर महाभाष्य — एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह— 'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति । सूत आह — 'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति । वैयाकरण आह अपशब्द इति । सूत आह — प्राज्ञिप्तो देवानां प्रियः, न तु इष्टिज्ञः । इष्यत् एतद् रूपमिति । वैयाकरण आह — 'अहो खल्वेतेन दुरुतेन बाध्यामहे' इति । सूत आह—न खलु वेञ सूतः सुवतेरेव सूतः । यदि सुवतेः कुत्साप्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम् ।

5. वाल्मीकि रामायण, 5 / 5 / 14 — यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥

6. वाल्मीकि रामायण, 5 / 30 / 17 — वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ।

संस्कृत के नाट्यों में आचार्यों ने भाषा सम्बन्धी जो विधान प्रस्तुत किया है वह भी इस मत का ही समर्थक है। नाट्यगत भाषाविधान के अन्तर्गत उत्तम पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं, किन्तु अन्य पात्र विभिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते हैं। किन्तु सभी पात्र संस्कृत एवं प्राकृत दोनों को ही भली भाँति समझते हैं। दर्शकवृन्द भी सरल किंवा कठिन सभी प्रकार से प्रयुक्त संस्कृत भाषा को समझने में पूर्णतया समर्थ थे, तभी नाट्य देखकर उन्हें रसग्रहण हो पाता था। यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न होती तो सामान्य दर्शक नाट्य में भी संस्कृत भाषा न समझ पाता और नाट्य की ओर प्रवृत्त ही न होता। तब नाट्यरचना अथवा भाषाविधान का प्रयोजन ही ध्वस्त हो जाता। प्रोफेसर मैक्डॉनल ने भी उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है।[1] इस समग्र विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समय भारतीय जनता संस्कृत भाषा में ही अपने भावों को प्रकट करती थी। क्रमशः भाषागत परिवर्तनों से प्राकृत का उदय एवं प्रसार होने से संस्कृत का व्यवहार क्षेत्र बोलचाल के माध्यम के रूप में कम होता गया। किन्तु ईस्वी शती के प्रारम्भ तक शिष्टजनों में संस्कृत का प्रचलन एवं व्यवहार अक्षुण्ण बना रहा। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर मैक्डॉनल का मत दृष्टव्य है। उनका कथन है—'लौकिक संस्कृत प्रारम्भ से ही एक साहित्यिक, अथवा यों कहिए, एक कृत्रिम नियमबद्ध भाषा क्यों न रही हो, वह लोकव्यवहार की भाषा नहीं थी—यह उक्ति सर्वथा प्रमादपूर्ण है।'[2]पूर्व में हम कह आए हैं कि संस्कृत आज भी भारतवर्ष में विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा बोली जाती है और दैनिक व्यवहार में लिखी भी जाती है।

वर्तमान युग में पाश्चात्य सभ्यता के अन्ध पोषक संस्कृत को मृतभाषा उद्घोषित करते हैं। किन्तु यह आरोप सर्वथा निराधार है। अनेक संस्कृतविद् आलोचकों ने विभिन्न तथ्यों की उपस्थापना के द्वारा इस कथन का खण्डन किया है। भले ही सम्पूर्ण भारतवर्ष के विविध प्रान्तों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ हो गई हों, सभी का साहित्य भी नितान्त समृद्ध हो गया हो, तथापि वर्तमान काल में भी संस्कृत का प्रयोग जीवित भाषा के रूप में निरन्तर हो रहा है। धार्मिक पूजन की सभी विधियाँ आज भी संस्कृत में ही सम्पन्न होती हैं। आज भी संस्कृत में उत्तमोत्तम साहित्य की रचना हो रही है जिसमें गद्य, पद्य, नाटक, खण्डकाव्य, महाकाव्य तथा कथाएं आदि सभी सम्मिलित हैं। संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों की टीकाएँ तथा खण्डनमण्डनात्मक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही आज भी लिखे जा रहे हैं। आज भी अनेक नए-पुराने नाटकों का संस्कृत में अभिनय होता है। पूरे भारतवर्ष में अनेक साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक तथा त्रैमासिक पत्र पत्रिकाएँ संस्कृत भाषा में प्रकाशित हो रही हैं। इन सब पुष्ट प्रमाणों के होते हुए संस्कृत भाषा को मृतभाषा कहना हास्यास्पद ही है।

संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है। यों तो साहित्य शब्द का अर्थ है—शब्द और अर्थ का मञ्जुल समन्वय—'सहितयोः शब्दार्थयोः भावं साहित्यम्।' व्यापक अर्थ में साहित्य से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो किसी भाषा विशेष में रचे गए हों। आंग्ल भाषा में 'लिटरेचर' शब्द से भी यही अर्थ ग्रहण किया जाता है किन्तु किञ्चित् संकुचित अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्यादि के लिए भी किया जाता है। यहाँ यही अर्थ अभिप्रेत है। काव्य आदि

---

1. मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 19
2. मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 20

केवल मनोरञ्जन के साधन मात्र नहीं हैं। मानव समाज एवं जीवन के लिए काव्य की बहुत उपादेयता है। भर्तृहरि ने तो साहित्य-काव्यादि से विहीन व्यक्ति को मनुष्य ही न मानकर पशु कहा था—'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

साहित्य समाज को प्रतिफलित करता है। तत्कालीन साहित्य से किसी भी समाज के सुख, विषाद, कृपणता, औदार्य, उन्नति अथवा अवनति को निश्चितरूपेण जाना जा सकता है। साहित्य ही संस्कृति का भी वाहन और धारक है। भौतिक अथवा आध्यात्मिक संस्कृति के रूप को यथावत् उजागर कर देने वाला भी साहित्य ही होता है। "साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार का विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुंचाने के कारण, साहित्य संस्कृति का वाहन होता है।"[1] विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्य की भाँति संस्कृत साहित्य भी इन सभी विशेषताओं से युक्त है। किन्तु संस्कृत के साहित्य की अपनी भी कुछ भूयसी विशिष्टताएं हैं जो इसको अन्य साहित्यों से विशिष्टतर बना देती हैं। प्राचीनता, व्यापकता विशालता धार्मिकता, सांस्कृतिक-तत्व तथा रसोन्मेषकारिणी कला—सभी दृष्टियों से संस्कृत साहित्य अनुपमेय रहा है। प्राचीनता की दृष्टि से देखें तो पाश्चात्य किंवा पौरस्त्य—सारा ही विद्वद्जगत् 'ऋग्वेद' को विश्व का सर्वप्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करता है। तब से आज तक संस्कृत भाषा में साहित्य की वह मन्दाकिनी अजस्रतया प्रवाहित है। सामान्यतया संस्कृत साहित्य में धार्मिक ग्रन्थों का बाहुल्य माना जाता है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। हमारे ऋषि-मुनियों तथा कवि-लेखकों ने जीवन के किसी भी पक्ष को अपनी लेखनी से अछूता नहीं रहने दिया। मनुष्य के प्राप्तव्य चारों लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का सुन्दर समन्वित विकास संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थो से सम्बद्ध ग्रन्थों से तो सब सुपरिचित हैं ही, किन्तु अर्थ और काम पुरुषार्थ का भी सम्यक् विवेचन इस साहित्य में किया गया है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र' अपने अपने क्षेत्र में अपूर्व ग्रन्थ तो हैं ही, साथ ही तत्सम्बद्ध ग्रन्थों की एक सम्पूर्ण परम्परा के भी पोषक तथा जनक हैं। गणित, विज्ञान, ज्योतिष आदि के विभिन्न प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में प्रस्तुत किए गए सिद्धान्तों की खरी वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता को आज सारा संसार स्वीकार कर चुका है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य जीवन के केवल आध्यात्मिक पक्ष का ही चित्रण नहीं करता, अपितु लौकिक सुख प्रदान करने वाली विधाओं के वर्णन से सम्पन्न प्रेयः शास्त्र तथा मोक्षोपयोगी विषयविवेचन से सम्पन्न श्रेयः शास्त्र—दोनों की ओर समान प्रवृत्ति इस साहित्य में परिलक्षित होती है। संस्कृत साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरं का अद्भुत एवं प्रीतिकर समन्वय एवं सामञ्जस्य उपलब्ध होता है। भारतवर्ष की प्रकृति में सांसारिक जीवन के निर्वाह के साधनों की पर्याप्त प्रचुरता रही। अतः जीवन के प्राणलेवा संघर्ष से अपने को पृथक रख कर संस्कृत मनीषा ने शाश्वत आनन्द की अनुभूति और उपलब्धि को ही अपना चरम उद्देश्य माना। काव्य-रस आनन्दरूप है, ब्रह्मास्वादसहोदर है, और इस रस की निष्पत्ति करा देने में समर्थ वाक्य ही काव्य है—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। इस रूप में संस्कृत साहित्य ने औचित्य तथा आनन्द को एक साथ प्रतिष्ठित किया।

---

1. बल्देव उपाध्याय — संस्कृत साहित्य का इतिहास—पष्ठ 1

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत साहित्य पर प्रायः यह आरोप लगाया है कि संस्कृत काव्य अधिकांशतया अलंकार बहुल तथा पाण्डित्य पूर्ण होने के कारण कृत्रिम है। किन्तु यह आरोप पक्षपातपूर्ण है। कालिदास, भवभूति, हर्ष, जयदेव आदि कवियों तथा नाट्यकारों की रसमाधुरी में आबालवृद्ध सभी जन आप्लावित हुए हैं। संस्कृत आचार्यों ने माधुर्य एवं प्रसाद गुण को काव्य का प्राण कहा है। महाकवि भारवि एवं माघ के पश्चात् रचे गए काव्यों में अवश्य पाण्डित्य का आधिक्य है, किन्तु उस कारण सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य पर कृत्रिमता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। संस्कृत साहित्य की मौलिकता की प्रशंसा तो सभी ने एक स्वर से की है। इन्हीं समग्र विशेषताओं से चमत्कृत होकर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान एम. विण्टरनित्ज़ ने कहा है—'भारतीय साहित्य की प्राचीनता, भूगोल तथा विकास की दृष्टि से व्यापकता, उसकी आन्तरिक सम्भूति एवं कमनीयता और मानव संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उसका मूल्य—ये सब चीजे हैं जो पाश्चात्य जगत् को इसकी महत्ता, मौलिकता तथा प्राचीनता की ओर बरबस आकृष्ट कर लेती हैं। ......सच बात तो यह है कि भारत का यह प्राचीन साहित्य ही था, जिसके द्वारा विश्व के इतिहास में एक युगान्तर आया और परिणामतः अब हम पूर्व और पश्चिम के बिसरे, प्रागैतिहासिक, सम्बन्धों को कुछ कुछ समझने लगे हैं।[1]

वस्तुतः संस्कृत साहित्य का इतिहास मात्र भाषा का ही इतिहास नहीं है वरन् यह साहित्य प्राचीन भारत के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक—सभी प्रकार के जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। आज जब भौतिकता की अन्धी दौड़ में मानवशक्ति सम्पूर्ण एवं चरम विनाश के कगार पर खड़ी है तब समस्त विश्व के मनीषी इस आसन्न विनाश से बचने के लिए विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व की बारंबार चर्चा करने लगे हैं। इस विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा विश्वसंस्कृति की समीक्षा, परीक्षा, अन्वीक्षा तथा सम्यक् पालन हेतु भी संस्कृत साहित्य की परम उपादेयता है।

इतने प्राचीन, व्यापक तथा विशाल संस्कृत साहित्य को स्वरूप तथा समय आदि की दृष्टि से आपाततः दो भागों में विभाजित किया गया है—(1) वैदिक साहित्य एवं (2) लौकिक साहित्य। वैदिक साहित्य में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांग ग्रहण किए जाते हैं तथा लौकिक साहित्य में काव्य, नाटक, गद्य, कथा, गीति तथा चम्पू ग्रंथों को ग्रहण किया जाता है। साहित्य के विस्तृत अर्थ में तो व्याकरण, गणित, ज्योतिष, दर्शन, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुकला, छन्दःशास्त्र आदि सभी का ग्रहण हो जाता है; किन्तु यहाँ हमें साहित्य का एकदेशीय अर्थ अभिप्रेत है जिससे काव्यादि का बोध होता है। संस्कृत साहित्य के ये दोनों भाग—वैदिक और लौकिक—भाषा, व्याकरण, छन्द, प्रतिपाद्य वस्तु, स्वर आदि की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं। दोनों का पृथक् पृथक् विस्तार इतना अधिक है कि दोनों भागों के इतिहास पर विद्वानों ने भिन्न भिन्न वृहत्काय ग्रन्थों की रचना की है।

प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ में संस्कृत भाषा के महनीय वैदिक साहित्य का संक्षिप्त किन्तु विवेचनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांग इन सभी का निष्पक्ष विवेचन उसमें उपलब्ध है। पुराण साहित्य का विषय देवपूजन होने के कारण पुराणों को भी इसी ग्रन्थ में ग्रहण कर लिया गया है। ■

1. विंटरनित्स — प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी अनुवाद) —पृष्ठ 5

1
वेद
अर्थ, महत्त्व एवं कालनिरूपण

विश्व साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थों के रूप में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के तो ये मूलाधार ग्रन्थ रूप हैं ही। वेद शब्द विद् धातु (ज्ञाने, सत्तायां, लाभे, विचारणे च) से घञ् प्रत्य करने का निष्पन्न होता है। इस रूप में 'वेद' शब्द का अर्थ होता है ज्ञान। वेद के द्वारा ही मनुष्य परमात्मा, आत्मा और संसार के स्वरूप को जानने में समर्थ होता है।[1] ज्ञान राशि अथवा ज्ञान का संग्रह ग्रन्थ वेद हैं। कुरान, बाइबल अथवा त्रिपिटक की भाँति 'वेद' किसी एक साहित्यिक रचना का नाम नहीं है, वरन् भारतीय मनीषियों ने इन्द्रिय दमन पूर्वक वर्षों के स्वाध्याय और तप से जिस ज्ञान राशि को प्राप्त किया था, उसका संग्रह वेद में उपलब्ध होता है। वेद स्वयं ज्ञानरूप भी हैं और ज्ञान प्राप्ति के अपूर्व साधनरूप भी। मनुष्य जीवन में उचित तथा अनुचित का विवेक प्रदर्शित करने वाला भी वेद ही है। सायण ने वेद शब्द की यही व्याख्या प्रस्तुत की है 'जो ग्रन्थ इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार का अलौकिक उपाय बतलाता है, वही वेद है।'[2] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'वेद' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ देते हुए अपनी उदार दृष्टि का इस प्रकार परिचय दिया है—"विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।" डॉ. राममूर्ति शर्मा के विचार से 'अद्भुत प्रतिभासम्पन्न ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत ज्ञानराशि का नाम ही वेद है।' इस प्रकार वेद शब्द का साधारण अर्थ तो ज्ञान है किन्तु वैदिक अध्ययन के सन्दर्भ में वेद शब्द का अभिप्राय ऋषियों द्वारा अनुभूत ज्ञान से है।

---

1. तैत्तिरीय संहिता 1 / 4 / 20 — वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्।
2. तैत्तिरीय संहिता भाष्य की भूमिका — इष्ट प्राप्त्य निष्टपरिहारयोर लौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।

भारतीय परम्परा में वेद को 'श्रुति' भी कहा जाता है। गुरुशिष्य की अविच्छिन्न क्रमिक परम्परा से सुरक्षित रहने के कारण ही वेद का पर्याय श्रुति हुआ। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने शिष्य समूह को वेदमन्त्र सुनाए। शिष्य समुदाय ने गुरु के श्रीमुख से सुन कर ही उन मन्त्रों को कण्ठस्थ किया। स्वरों तथा वर्णों में कोई उच्चारण त्रुटि अथवा अन्य दोष न रहे, कहीं मन्त्र का कोई वर्ण असावधानी से छूट ही न जाए—इस पर गुरु विशेष ध्यान देते थे। कालान्तर में सावधानी के लिए अनेक प्रकार की पद, घन, जटा आदि पाठविधियां भी विकसित हुई। इस प्रकार क्रमशः श्रवण परम्परा से वेदज्ञान की वह अमूल्य धरोहर श्रुति रूप में निरन्तर सुरक्षित रही। भारतीय मनीषा ने श्रुति को निरपेक्ष प्रमाण माना है।

वेद का एक और पर्याय शब्द 'आम्नाय' है। महाभारत मे व्यास ने अनेक स्थलों पर चरण और शाखाओं के मूल वेद को आम्नाय नाम से अभिहित किया है। 'आम्नाय से वेदों का सर्वतोमुख प्रसार हुआ।'[1] 'मैं आर्ष आम्नाय को देखता हूँ जिसमें वेद प्रतिष्ठित हैं।'[2] वेद का एक नाम 'ब्रह्म' भी बहुत प्रसिद्ध हुआ। शतपथ ब्राह्मण ने स्पष्टतया मन्त्र (वेद) को ब्रह्म कहा है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक में ऐसा प्रसंग आया है कि तपस्या करने वाले ऋषियों के समीप ब्रह्म (वेद) स्वयं उपस्थित हो गया।[4] परवर्ती काल में वेदों के व्याख्या ग्रन्थों के रूप में जिस विशाल साहित्य की रचना हुई, उन गन्थों का नाम 'ब्राह्मण' इसीलिए पड़ा क्योंकि ये ब्रह्म (वेद) के व्याख्यान ग्रन्थ थे। इन प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त मनन करने के कारण 'मन्त्र', निगमन (अर्थ बोधकता, सार्थकता) के कारण निगम तथा छादन के कारण 'छन्द' आदि भी वेद के पर्याय शब्द लोक में प्रचलित रहे हैं।

वेद का महत्त्व— भारतीय परम्परा में वेद शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किए गए हैं। वर्तमान काल में नास्तिक अथवा आस्तिक शब्द का अर्थ परमात्मा की सत्ता स्वीकार न करना अथवा स्वीकार करना आदि समझा जाता है। किन्तु वस्तुतः इन शब्दों की व्युत्पत्ति वेद प्रामाण्य के आधार पर मानी गई थी। वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करने वाले आस्तिक कहलाते थे—(अस्ति वेदानां प्रामाण्यमिति आस्तिकः); और जो व्यक्ति अथवा विचारधारा वेदों को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते थे, उन्हें नास्तिक कहा जाता था—(नास्ति वेदानां प्रामाण्यमिति नास्तिकः)। वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो समस्त भारतीय तत्व ज्ञान, संस्कृति, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, भारतीय आचार-विचार आदि सभी का उपजीव्य ग्रन्थ वेद ही हैं। विश्वसाहित्य के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में धर्म का साक्षात्कार करने वाले सभी ऋषियों ने समस्त तत्वज्ञान को संगृहीत कर दिया—'साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः।' वेदाध्ययन करना, वेद तत्त्व को जानना और तदनुसार ही जीवन को दिशा देना मानव के लिए परमावश्यक कहा गया। मनु (12/102) ने स्पष्ट घोषणा

---

1. महाभारत 12 / 266 — आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः।
2. महाभारत 12 / 274 — आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
3. शतपथ ब्राह्मण 7 / 1 / 1 / 5 — ब्रह्म वै मन्त्रः।
4. तैत्तिरीय आरण्यक 2 / 9— अजान् ह वै पृश्नींतपस्यमानान् ब्रह्म स्वयभ्म्वभ्यानर्षत्।

की थी कि 'वेदशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला भले ही किसी भी आश्रम में रहे, वह ब्रह्मतत्त्व को जान लेता है।' एक और स्थल पर मनु निर्भीकतया उद्‌घोषित करते हैं कि 'वेद से भिन्न (वेद को छोड़कर) अन्य शास्त्रों में श्रम करने वाला द्विज अपने पूरे वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।'[1] वेद आध्यात्मिक तत्त्वों का उत्कृष्ट भण्डार है। अतः वेद के अध्ययन के साथ वेद के अर्थ का ज्ञान भी परम आवश्यक है। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने कहा था कि 'जो वेद को पढ़कर भी उसके अर्थ को नही जानता, वह तो निरा ठूँठ सदृश है तथा केवल भार ही वहन करता है'

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

ऐसे ज्ञानराशि रूप वेद के सर्वतोमुखी महत्त्व को भिन्न भिन्न दृष्टियों से इस प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है–

1 प्राचीनता—वेद समग्र मानवजाति के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ हैं। अतीतकालीन मानव के विचारों तथा व्यवहार को जानने के लिए ये ही एकमात्र स्रोत हैं। प्राचीन काल के मनुष्य का दैनन्दिन आचरण क्या था, उस पुरातन युग में धर्म तथा लोक के प्रति क्या मान्यताएँ तथा विश्वास थे—यह सभी कुछ वेद से ही ज्ञात हो सकता है। वेद मानव जाति के विचारों को एकत्र रूप में आबद्ध कर लेने वाले गौरवमय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन हैं। अतः वेद के महत्त्व में प्राचीनता एक सर्वमान्य बिन्दु है, तथा वेदों की प्राचीनता को सभी ने स्वीकार किया है।

2 सामाजिक महत्त्व—वेद में प्राचीन भारतीय समाज का विविध चित्रण उपलब्ध होता है। तत्कालीन समाज एवं सभ्यता का विशद विवरण वेद की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है। इस दृष्टि से ऋग्वेद तथा अथर्ववेद अन्य दोनों वेदों की अपेक्षा अधिक उपयोगी हैं। समाज के विभिन्न मनुष्य किस प्रकार के कार्य किया करते थे; ज्ञानार्जन, रक्षण, अर्थोपार्जन तथा सेवाकार्य का विभाजन किस प्रकार किया गया था—यह वेदों से सम्यग्तया ज्ञात हो जाता है। समाज में अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी? व्यापार तथा वाणिज्य का क्या स्वरूप था? जीवन में कृषि, अन्न, पशु आदि का किस प्रकार और क्या उपयोग किया जाता था—इस सबका वर्णन वेदों में प्राप्त हो जाता है। प्राचीनकालीन राजनीति का सुन्दर स्वरूप भी वेदों से ज्ञात होता है। राजा का निर्वाचन, राजा और प्रजा के कर्त्तव्य, सभा और समिति, मन्त्रिमण्डल, प्रजातन्त्र व्यवस्था, विभिन्न नीति प्रयोग आदि राजनीति सम्बन्धी व्यवस्था एवं आचरण भी वेदों में उपलब्ध होता है। विवाहसूक्त, विभिन्न संवाद सूक्त, अक्ष सूक्त आदि अनेक सूक्तों से तत्कालीन सामाजिक आचरण, परम्पराओं और रीतियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

3 धार्मिक तथा दार्शनिक महत्त्व—वेदों का सर्वाधिक महत्त्व धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि से है। वस्तुतः वेद ही आर्य धर्म के आधार स्तम्भ हैं। वर्तमान समय में भारत में जितने भी विभिन्न मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उन सबका मूल वेद में ही है। धर्म के मूल तत्त्वों को जानने के एकमात्र

---

1. मनुस्मृति 2 / 168 — योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

साधन वेद ही हैं ।[1] सम्पूर्ण भारत के सभी धार्मिक कार्यों में वेदों की प्रामाणिकता अकाट्य है । निष्काम भाव से वेदाध्ययन करना ब्राह्मण का अनिवार्य धर्म कहा गया था ।[2] वेदों की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकास को भली भाँति समझा जा सकता है । भारतीय दर्शन परम्परा के आदि स्रोत वेद ही है । जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि नास्तिकता या आस्तिकता का आधार ईश्वर की सत्ता में न होकर वेद की प्रामाणिकता में निहित था । वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन तथा वेद की निन्दा करने वाले अथवा वेद को प्रमाण रूप स्वीकार न करने वाले दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाए । उपनिषदों में इन समस्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के विभिन्न तत्त्व बीजरूप में उपलब्ध हो जाते हैं । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने सच ही लिखा है 'यदि कठोपनिषद् का 'नेह नानास्ति किञ्चन' अद्वैत तत्त्व का बीजरूप से सूचक है तो श्वेताश्वतर में वर्णित लोहितकृष्णशुक्ला अजा सांख्याभिमता सत्वरजस्तमोमयी—त्रिगुणात्मिका प्रकृति की प्रतीक है । यदि हम रामानुज मत के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, वल्लभ के शुद्धाद्वैत, चैतन्य के अचिन्त्यभेदाभेद के रहस्योद्घाटन के अभिलाषी हैं, तो उपनिषदों का गम्भीर मनन एवं पर्यालोचन अनन्य साधन है ।'

4 सांस्कृतिक महत्त्व—वेद भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत भी हैं और भारतीय संस्कृति को जानने के अन्यतम साधन भी हैं । वैदिक साहित्य से ही भारतीय संस्कृति का वास्तविक ज्ञान होता है । लोकमान्य तिलक ने तो आर्यत्व एवं हिन्दुत्व का लक्षण ही यही दिया था कि वेदों को प्रमाण माना जाए—'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु' । भारतीय संस्कृति के जितने भी मूल उपादान हैं, वे सभी वेदों में प्राप्त होते हैं । यज्ञ कर्म की पवित्रता और यज्ञ पर अटूट विश्वास, एक देववाद के साथ अनेक देववाद पर आस्था, निष्काम कर्म, संसार की क्षण भंगुरता, ईश्वर की सर्वव्यापकता, ज्ञान-कर्म एवं भक्ति का मञ्जुल समन्वय, पुनर्जन्म पर विश्वास, चारों पुरुषार्थ और जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष आदि सभी भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्वों का बोध वैदिक साहित्य से सुचारु रूपेण हो जाता है ।

5 ऐतिहासिक महत्व—ऐतिहासिक महत्त्व की भी विपुल सामग्री वेदों से प्राप्त होती है, जिसके आधार पर विद्वज्जन प्राचीन इतिहास की रूपरेखा का निर्धारण करते हैं और तत्कालीन भौगोलिक विस्तार का निर्णय करते हैं । विभिन्न नदियों के नाम, सिन्धु नदी की प्रशंसा में कथित सम्पूर्ण सूक्त (ऋग्वेद 10/75)[3]; पुरु, तुर्वश, यदु, अनु और द्रुह्यु—इन पञ्चजनाः का उल्लेख (ऋग्वेद 3/37/9); दाशराज्ञ युद्ध (ऋग्वेद 7/83/7,8) आदि अनेक प्रसंग तत्कालीन इतिहास एवं

---

1. मनुस्मृति 2 / 6 — वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ।
   2 / 7 — यः कश्चिद् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

2. महाभाष्य, प्रथम आह्निक — ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।
   मनुस्मृति 2 / 166 — वेदमेव सदाऽभ्यस्येत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।
   वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥

3. ऋग्वेद 10 / 75 / 3 — दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्मयुदियर्ति भानुना ।
   अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥

भूगोल का वर्णन करते हैं।

6 साहित्यिक महत्त्व—वेद का साहित्यिक महत्व सभी विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। वस्तुतः तो लौकिक संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं—महाकाव्य, नाटक, गद्य, कथा, गीतिकाव्य आदि सभी का उद्गम स्थल वेद की विभिन्न ऋचाओं में स्थापित किया गया है। सम्भवतः वेद को शब्दप्रमाण मानने के कारण ही प्रत्येक वस्तु का मूल वेद में खोजने की प्रवृत्ति प्रबल हुई। किन्तु अन्यथा भी वेद के कतिपय स्थल साहित्यिक दृष्टि से पर्याप्त सुन्दर बन पड़े हैं। अनुप्रास, रूपक, यमक आदि अलंकारों का अनेक स्थलों पर समुचित प्रयोग किया गया है। उषस् सूक्त के साहित्यिक सौन्दर्य को पाश्चात्य तथा भारतीय सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं। मैक्डॉनल ने वेदों के साहित्यिक महत्त्व रूपी विषय को अत्यन्त सुन्दरतया निबद्ध किया है—"———प्राचीनतम होने पर भी अपने भावगत सौन्दर्य एवं परिमार्जित स्वरूप तथा भाषागत शब्द सौष्ठव एवं समुचित प्रयोग और मनोहारि छन्दों के कारण सविशेष महत्व रखती हैं।"[1]

7 भाषावैज्ञानिक महत्त्व—भाषा की दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व अप्रतिम है। सच तो यह है कि भाषा विज्ञान का प्रारम्भ ही पाश्चात्य जगत को संस्कृत भाषा के ज्ञान से हुआ। उससे पूर्व पाश्चात्य भाषाविदों में मूल भाषा के सम्बन्ध में अनेक मतभेद चल रहे थे। भिन्न भिन्न विद्वान् ग्रीक भाषा अथवा लैटिन भाषा अथवा हिब्रू (यहूदी) भाषा को पृथिवी की भाषाओं में सर्वप्राचीन, आदिम तथा मूलभाषा माना करते थे। किन्तु पाश्चात्य विद्वज्जगत में संस्कृत भाषा का ज्ञान एवं प्रसार होने पर यह भ्रान्ति दूर हो गई। सम्प्रति समस्त विश्ववाङ्मय में ऋग्वेद ही प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रकार के अध्ययनों के लिए वेदों की, मुख्यतया ऋग्वेद की सर्वाधिक उपयोगिता है। विश्व की प्रथम भाषा का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ होगा—इसका तार्किक निश्चय करने के लिए वेदों की सहायता अनिवार्य है।

वेद का काल निरूपण—वेदों के प्राचीनता, महनीयता तथा गौरव के सम्बन्ध में पाश्चात्य किंवा भारतीय, सभी विचारकों का ऐकमत्य है; किन्तु वेदों की रचना कब हुई ? इस विषय में तीव्र मतवैभिन्य पाया जाता है। जो विद्वान् भारतीय दृष्टि में आस्था रखते हैं, उनके सम्मुख वेदों के समयनिर्धारण की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती, क्योंकि भारतीय परम्परा में वेद नित्य, अनादि, काल से अनवच्छिन्न तथा अपौरुषेय हैं। मीमांसा शास्त्र ने शब्द को नित्य कहा है। इस नित्य शब्द का अवयव रूप 'वर्ण' उद्भूत नहीं होता, अभिव्यक्त होता है। शब्द रचना ही पौरुषेय नहीं है अतः शब्द राशि भी मनुष्यकृत नहीं हो सकती। वैदिक ऋषियों ने वेदमन्त्रों का निर्माण अथवा सृजन नहीं किया था, उन्होंने उन मन्त्रों का दर्शन किया था—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। किन्तु तर्कमूलक प्रज्ञा का आधुनिक पोषक इस भारतीय विचार परम्परा को अन्धश्रद्धा मात्र कह कर वेदों को अपौरुषेय नहीं मानता और वेदों के आविर्भाव के समय खोजने का विविध प्रयास करता है। इनके अनुसार यदि मन्त्र स्वयंभू एवं अपौरुषेय हैं तो उनकी भाषा, शैली एवं भाव में भी एकरूपता होनी चाहिए। किन्तु मन्त्रों में

---

1. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास — प्रथम भाग (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ— 24.

सर्वत्र भावगत, भाषागत एवं शैलीगत अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है, अतः वेद किंवा मन्त्र पौरुषेय हैं। ऋषि मन्त्रदृष्टा नहीं थे, अपितु मन्त्रस्रष्टा थे। वेद पौरुषेय हैं, यह सिद्ध हो जाने पर स्वतः यह प्रश्न उभरता है कि वेदों का कुछ न कुछ रचनाकाल भी होना चाहिए।

वेद का रचनाकाल निश्चित करने के प्रयास में अनेक कठिनाईयाँ सम्मुख आती हैं। उसमें प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्य और वहिःसाक्ष्य का तो सर्वथा अभाव है ही, किसी प्रकार की तिथि अथवा संवत्सर का भी कोई उल्लेख नहीं है। इन कठिनाइयों के फलस्वरूप ही वेदों की तिथि प्रस्तुत होने में परस्पर अत्यन्त विरोध है। कुछ विद्वानों ने वेदों का समय ईसा से भी लाखों वर्ष पूर्व सिद्ध करने का प्रयास किया है तो कतिपय अन्य विद्वान् अनेक प्रमाणों पूर्वक वेद का समय ईस्वी सन् के अत्यन्त निकट ही ले आने का प्रयत्न करते हैं। वेदों के समय की पूर्वसीमा जानने का तो कोई उपाय ही नहीं है क्योंकि ऋग्वेद स्वयं ही मानव जाति का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है; किन्तु वैदिक साहित्य की परवर्ती सीमा का निर्धारण सरलता पूर्वक किया जा सकता है। बौद्ध एवं जैन धर्म का उदय ही वैदिक कर्म-काण्ड की जटिलता एवं पशुबलि की भयंकर निरर्थकता की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था, अतः स्पष्ट है कि बुद्ध एवं महावीर के समय तक वैदिक साहित्य के अन्तिम अंग– सूत्रसाहित्य की रचना हो चुकी थी। इस सूत्रसाहित्य में ही मुख्यतया कर्म-काण्ड के प्रतिपादक श्रौत सूत्र एवं गृह्य सूत्र हैं। अतः बुद्ध एवं महावीर से पूर्व लगभग छठी शती ईसा पूर्व, वैदिक साहित्य की परवर्ती सीमा होनी चाहिए। वेदों के समय निर्धारण में पाए जाने वाले विभिन्न प्रसिद्ध मत इस प्रकार हैं—

प्रोफेसर मैक्समूलर का मत—आधुनिक विचारधारा के पोषक विद्वानों में सर्वप्रथम प्रोफेसर मैक्समूलर ने 1859 ई. में अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' नामक ग्रन्थ में वेदों के कालनिर्णय का प्रयत्न किया।[1] चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बुद्ध के समय को सुनिश्चित आधार मान कर मैक्समूलर ने यह स्थापना की, कि बौद्धधर्म के उदय के पूर्व सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय अस्तित्व में आ चुका था। जैसा पहले भी इंगित किया जा चुका है कि वैदिक कर्मकाण्ड की प्रवलता की प्रतिक्रिया रूप में उस बौद्धधर्म का आरम्भ हुआ था जिसने कर्मकाण्ड तथा पशुबलि का तिरस्कार करके उपनिषदों की अध्यात्मभावना को स्वीकार किया। बुद्धधर्म के उदय सीमा को वैदिक वाङ्मय के समय की उत्तरसीमा मानते हुए प्रोफेसर मैक्समूलर ने समस्त वैदिक युग को चार विभागों में विभक्त किया—

1. छन्दःकाल, 2. मन्त्रकाल, 3. ब्राह्मणकाल, 4. सूत्रकाल

इस चारों विभागों की विचारधारा तथा ग्रन्थनिर्माण के लिए प्रोफेसर मैक्समूलर ने प्रत्येक का लगभग 200 वर्षों का समय पर्याप्त माना। अतः बुद्ध से पूर्व रचित होने के कारण सूत्रकाल का प्रारम्भ उन्होने 600 विक्रमपूर्व माना। इस काल में प्रधानतया श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों की रचना हुई। इससे पूर्व ब्राह्मणकाल में भिन्न-भिन्न ब्राह्मणगन्थों की रचना और उपनिषदों के सिद्धान्तों का विकास हुआ, जिसका विकासकाल 800 विक्रमपूर्व से 600 विक्रमपूर्व था। उससे भी पूर्व मन्त्रकाल 1000 विक्रमपूर्व से 800 विक्रमपूर्व तक रहा, जिसमें यज्ञविधान की दृष्टि से सम्पूर्ण मन्त्रसमूह का

---

1. विण्टरनित्ज — ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम खण्ड पृष्ठ — 292 – 293 पर उद्धृत मैक्समूलर

चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया। इससे भी पूर्व 1200 से 1000 विक्रमपूर्व तक वह छन्दःकाल था, जिसमें ऋषियों ने अपनी चमत्कारिणी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से सम्पन्न मन्त्रों की रचना की। यही वस्तुतः ऋग्वेद का रचनाकाल है। संक्षिप्त रूप में इस विचारधारा को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1 विक्रमपूर्व 1200 से 1000 – छन्दःकाल—ऋग्वेद तथा सामवेद

2 विक्रमपूर्व 1000 से 800 – मन्त्रकाल—यजुर्वेद तथा अथर्ववेद

3 विक्रमपूर्व 800 से 600 – ब्राह्मणकाल—ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषद्

4 विक्रमपूर्व 600 – सूत्रकाल—सूत्रसाहित्य

मैक्समूलर महोदय ने वेद के रचनाकाल की जो यह परिकल्पना की, वह उनकी विद्वत्ता की प्रतिष्ठा के कारण शीघ्र ही अत्यन्त प्रतिष्ठित हो गई। स्वयं प्रोफैसर मैक्समूलर ने जिसको एक सम्भावना के रूप में प्रतिपादित किया था, उसे अन्य विद्वानों ने वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया। जब विल्सन तथा हिव्टने प्रभृति विद्वानों ने इस समय—सम्भावना की आलोचना की तो स्वयं मैक्समूलर महोदय ने 1890 में जिफोर्ड भाषणमाला में 'भौतिक धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत अपने भाषण में यह कहा था—'1000 ईस्वीपूर्व तो ऋग्वेद के रचनाकाल की अन्तिम सीमा है। उसके बाद ऋग्वेद का समय नहीं माना जा सकता। किन्तु उससे कितना पहले ऋग्वेद की रचना हुई होगी, यह बताना सम्भव नहीं है। भूतल पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी यह निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रों की रचना 1000 या 1500 या 2000 या 3000 विक्रमपूर्व में की गई।' इस प्रकार स्वयं मैक्समूलर ने अपने मत का खण्डन कर दिया था। किन्तु विद्वज्जगत् में मैक्समूलर महोदय का वेद का रचनाकाल सम्बन्धी मत इतना प्रचलित हो चुका था कि 30 वर्ष बाद स्वयं मैक्समूलर द्वारा कहे गए उक्त कथन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने वेद के रचनाकाल का जो निर्धारण किया था, उसका वस्तुतः कोई ठोस आधार नहीं था। वैदिक साहित्य के विभिन्न भागों में जितना विपुल साहित्य प्राप्त होता है, भाषा तथा विचारों का जैसा वैज्ञानिक विकास दृष्टिगोचर होता है—उस साहित्य-रचना तथा विकास के लिए मात्र दो सौ वर्षों का समय अत्यल्प तथा नितान्त अपर्याप्त है। वर्तमान युग में अन्य प्रमाणों के उपलब्ध हो जाने पर तथा प्राचीन भारत के राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक इतिहास के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी प्रोफेसर मैक्समूलर की यह वेदसमयक्रम की धारणा स्वयमेव ही खण्डित हो जाती है।

ज्योतिष पर आधृत मत—संहिताओं तथा ब्राह्मणों में स्थल-स्थल पर नक्षत्रादि सम्बन्धी अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। इन्ही नक्षत्र सम्बन्धी सूचनाओं का संकलन करके अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने ज्योतिष गणना के आधार पर वेदों के कालनिरूपण का स्तुत्य प्रयास किया। सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वान् लुडविग ने सूर्यग्रहण की गणना के आधार पर ऐसा प्रयत्न किया था। इनमें से प्रसिद्ध मत इस प्रकार हैं—

I पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण में एक महत्त्वपूर्ण स्थल खोज निकाला, जिसमें कृत्तिका नक्षत्रों के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय होने का वर्णन है ।[1] आजकल कृत्तिकाएँ पूर्वीय बिन्दु से तनिक उत्तर की ओर हट कर उदित होती है । श्री दीक्षित ने नक्षत्रगणना करके यह निष्कर्ष निकाला कि ठीक पूर्वीय बिन्दु पर कृत्तिकाओं के उदय होने की स्थिति 3000 विक्रमपूर्व में होनी चाहिए, जिसे शतपथ ब्राह्मण के निर्माण का समय माना जा सकता हैं । शतपथ ब्राह्मण से पूर्व तैत्तिरीय संहिता रची जा चुकी थी और ऋग्वेद की रचना उससे भी पूर्व की गई थी । यदि तैत्तिरीय संहिता एवं ऋग्वेद की रचना के लिये कम से कम 250 वर्षों का समय भी मान लिया जाये तो भी ऋग्वेद का समय 3500 विक्रमपूर्व से इधर का कदापि नहीं हो सकता ।[2]

II लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष गणनाओं और तदनुकूल ग्रहनक्षत्रों की स्थितियों के आधार पर ऋग्वेद का समय और भी अधिक प्राचीन सिद्ध किया ।[3] यह सभी जानते हैं कि पूरे वर्ष में ग्रीष्मादि छह ऋतुएँ होती हैं । प्राचीन काल से आजतक ऋतुएँ निरन्तर पीछे हटती जा रही हैं अर्थात् पहले जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का प्रारम्भ होता था, आज वही ऋतु उसी नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र में आकर प्रारम्भ हो जाती है । श्री तिलक ने ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न नक्षत्रों में होने वाले वसन्तसम्पात के पर्याप्त पुष्ट प्रमाण खोज निकाले हैं । आजकल वसन्तसम्पात मीन की संक्रान्ति से प्रारम्भ होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से प्रारम्भ होती है । किन्तु यह वसन्तसम्पात धीरे-धीरे नक्षत्रों के एक के बाद एक पीछे हटते जाने से हुआ है । अतः वर्तमान समय से पहले उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में वसन्तसम्पात होता था । पूरे एक नक्षत्र को पूर्णतया पीछे हटने में 972 वर्ष का समय लग जाता है । तैत्तिरीय संहिता में वसन्तसम्पात के मृगशिरा नक्षत्र में होने के पुष्टप्रमाण हैं । अतः आज से साढ़े छः नक्षत्र पूर्व (972x6 1/2) तैत्तिरीय संहिता का समय स्वतः सिद्ध है जो 4500 विक्रमपूर्व न्याय्य है । ऋग्वेद में मृगशिरा नक्षत्र से भी दो नक्षत्र पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्पात के सूत्र खोजे गए हैं, अतः ऋग्वेद का समय और भी लगभग दो हजार वर्ष पूर्व होना चाहिए । इस विचारसरणि के आधार पर लोकमान्य तिलक ने वैदिक काल को चार विभिन्न खण्डों या युगों में विभक्त किया ।

1 अदिति काल—6000 से 4000 विक्रमपूर्व—इस काल में विभिन्न देवों के नाम गुण का वर्णन करने वाले गद्यात्मक तथा पद्यात्मक निविदों (यज्ञसम्बन्धी विधिवाक्य) की रचना हुई, जिनका प्रयोग अनुष्ठान के समय होता था ।

---

1. शतपथ ब्रह्मण 2 / 1 / 2 एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति, तस्माद् कृत्तिकास्वादधीत । एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चयवन्ते ।

2. शंकर बालकृष्ण दीक्षित — भारतीय ज्योतिः शास्त्र (पूना 1896 ई.) पृष्ठ 136–140

3. लोकमान्य तिलक—द ओरायन

2 मृगशिरा काल—4000 से 2500 – विक्रमपूर्व—रचना की दृष्टि से विशिष्ट क्रियाशील इसी युग में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र रचे गए।

3 कृत्तिका काल—2500 से 1400 विक्रमपूर्व—इस युग में तैत्तिरीय संहिता की रचना हुई, चारों वेदों का संकलन हुआ, तथा शतपथ आदि ब्राह्मण रचे गए।

4 अन्तिम काल (सूत्रकाल) 1400 से 500 विक्रमपूर्व—इस अन्तिम काल के लगभग एक हजार वर्षों में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा दर्शनसूत्रों की रचना हुई।

ज्योतिष गणनाओं के आधार पर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का कालविभाजन करके श्री तिलक ने अन्य सभी मतों का भी प्रमाणपुरःसर विवेचन किया, और यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वेदों का रचना काल 4000 ईसापूर्व भी मान लिया जाए तो पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के परस्पर विरोधी मतों का सामंजस्य हो जाएगा।[1]

III डाक्टर याकोबी ने भी वेद का कालनिर्धारण करने में ज्योतिष को आधार बनाया। किन्तु वे वेद का रचनाकाल इतना पीछे नहीं ले जाते। गृह्यसूत्रों में उल्लिखित ध्रुवतारे के आधार पर उन्होने अपनी गणना की और वेदों का समय 400 विक्रमपूर्व माना।

भूगर्भ सम्बन्धी तथ्यों पर आधृत मत—ऋग्वेद में प्राप्त भूगोल एवं भूगर्भ सम्बन्धी अन्तः साक्ष्य के आधार पर डा. अविनाशचन्द्र दास ने ऋग्वेद का रचना-काल 25 हजार वर्ष ईसापूर्व माना है। यह तो सभी भूगर्भवेत्ताओं की स्पष्ट मान्यता है कि वर्तमान राजस्थान का मरुस्थलीय प्रदेश बहुत पहले एक विशाल समुद्र था। हिमालय से निकल कर सरस्वती नदी राजस्थान के इसी समुद्र में गिरती थी। कालान्तर में सम्भवतः किसी भयंकर भूकम्पादि के कारण इस समुद्र से विशाल पृथिवीखण्ड ऊपर आ गया और सरस्वती नदी धीरे-धीरे राजस्थान की विशाल मरुभूमि में लुप्त हो गई। ऋग्वेद में हिमालय से निकली हुई सरस्वती नदी का गरजते हुए समुद्र में गिरने का उल्लेख स्पष्ट है।[2] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में आर्यों के निवासस्थल सप्तसिन्धुप्रदेश के चारों ओर चार

---

1. लोकमान्य तिलक—द ओरायन पृष्ट—206 – 210

   The oldest period in the Aryan Civilization may, therefore be called the Aditi or pre orion period, and we may roughly assign 6000 – 4000 B.C. as its limits......

   We next come to the orion period which, roughly speaking, extended from 4000 B.C. to 2500 B.C. . . . . . . .This is the most important period in the history of Aryan Civilization. A good many suktas in the Rigveda (e.g. that of Urishakapi, which contains a record of the begining of the year were the legend was first conceived) were sung at the time.

   The third of the Krittika period commences with the vernal equinox in the esterism of the Krittikas and extends upto the period recorded in Vedang Jyotish, that is from 2500 B.C. to 1400 B.C . . . .

   We can thus satisfactorily account for all thé opinions and traditions current about the age of the Vedas amongst ancient and modern scholars in India and in Europe, if we place the Vedic period at about 4000 B.C. in strict accordance with the astronomical references and facts recorded in the ancient literature of India.

2. ऋग्वेद 7 / 95 / 2 — एका चेतत् सरस्वती नदीनाम्, शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।

समुद्रों का स्पष्ट निर्देश हैं [1] वर्ष की पर्याय संज्ञा 'हिम' है,[2] क्योंकि सप्तसिन्धु प्रदेश में तब शीत का प्राबल्य था। उपर्युक्त समस्त आधारों पर ऋग्वेद का समय ईसा से 25000 वर्ष पूर्व होना चाहिए—ऐसा डा. दास का आग्रह हैं।[3] किन्तु अन्य विद्वान् वेदों का रचनाकाल इतना प्राचीन मानने के पक्ष में नहीं हैं।

शिलालेख पर आधृत मत—डाक्टर ह्यूगो विन्कलर ने एशिया माइनर (टर्की) के 'बोधाज-कोई' नामक स्थान की खुदाई के समय 1907 ई. में एक प्राचीन शिलालेख प्राप्त किया। ईटों पर खुदे इस लेख का समय पुरातत्ववेत्ताओं ने 1400 विक्रमपूर्व निश्चित किया है। इस लेख मे परस्पर युद्धरत दो प्राचीन जातियों (हित्तिति जाति तथा मितानि जाति) के राजाओं की पारस्परिक सन्धि और तदर्थ की गई देवताओं की प्रार्थनाएँ है। सन्धि के संरक्षक के रूप में दोनों जातियों के देवताओं की अभ्यर्थना की गई है जिसमें मितानि जाति के देवों में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ (अश्विनीकुमार) का नाम साम्य उपलब्ध् होता है। इतने प्राचीन शिलालेख में इन वैदिक देवों के नामों को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने भाँति-भाँति की विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु सर्वाधिक बुद्धिसंगत तथ्य यही जान पड़ता है कि वैदिक आर्यो की ही कोई शाखा भारत से एशिया माइनर पहुंची थी। इस शिलालेख से यह भी निर्धारित हो जाता है कि उस समय तक आर्यावर्त में ऋग्वैदिक देवताओं के स्तुतिरूप-मन्त्र भी रचे जा चुके थे। इस प्रकार यह शिलालेखीय आधार भी लोकमान्य तिलक द्वारा प्रस्तुत किए गए वेद के काल को ही पुष्ट करता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता की खोज से वेदों के काल निर्णय की समस्या में एक नवीन मोड़ आया है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं यथा, यह सभ्यता द्राविड़ है, यह ऋग्वैदिक सभ्यता के समान है; यह ऋग्वेद से प्राचीन सभ्यता है। डा. पुशलकर ने इस विषय में एक समाहारित मत प्रस्तुत किया है।[4]

---

1. ऋग्वेद 9 / 33 / 6 — रायः समुद्रांश्चतुरो सोम विश्वतः ।
   आ पवस्व सहस्रिणः ॥
   ऋग्वेद 10 / 47 / 2
2. ऋग्वेद 1/ 64 / 14; 2 / 1 / 11; 6 / 10 /7;
3. दास, अविनाशचन्द्र — ऋग्वैदिक इण्डिया — पृष्ठ 577 – 579

   As same of the ancient hymns of Rigveda contain widence and indication of different distribution of land and water in Sapt. Sindhu, we are compelled to go back to the ancient time, when such a distribution actually existed. The result of geological investigations go to show that modern Rajputana was a sea in Tertiary Era... and the Gangetic trough to the east of the Punjab was also a sea up to the end of the Pleistocene epoch. As there are distinct reference to these sea in some hymns of Rigveda, we can not help assigning there is to the time when such distribution of land and water actually existed. There is also undoubted evidence to show that man flourished on the Globe and in India in the Pleistocene epoch.
4. पुशलकर, ए.डी—इण्डस वैली सिविलाइजेशन, भाग III, खण्ड —1 पृष्ठ 21 – 22.

डॉ. विण्टरनित्स ने वेदों के कालनिरूपण सम्बन्धी सभी मतों को उद्धृत करते हुए उनकी विवेचना की। उन्होंने स्पष्टतया प्रतिपादित किया, कि वेदमन्त्रों के अर्थों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है अतः उन वेद मन्त्रों से ग्रहण किए गए भूगर्भ विद्या सम्बन्धी तथा ज्योतिष गणना सम्बन्धी मतों को सर्वथा प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता। वेदमन्त्रों के अर्थों में निश्चित एकरूपता होने पर ही उनसे ग्रहण किए गए संकेत प्रामाणिक हो सकते हैं। 'बोधाज-कोई' शिलालेख में देवों के नामों का जो उल्लेख मिला है उसके लिए भी परस्पर विरोधी विचार विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं, जिनके कारण वेदों का रचनाकाल निश्चित नहीं किया जा सकता। यदि मैक्समूलर की विचार सरणि के अनुकूल 1200 ईसापूर्व का समय माना जाए तो इस विशाल वैदिक वाङ्मय के विकास को जानने में बाधा खड़ी हो जाती है। क्योंकि सात-आठ सौ वर्षो के अत्यल्प समय में इतना महान् एवं विशाल साहित्य नहीं रचा जा सकता। फिर भी अनुमानतः वैदिक साहित्य का प्रारम्भ लगभग 2500 ईसापूर्व माना जा सकता है। परवर्ती सीमा तो लगभग 500 ईसापूर्व है ही, जब बौद्ध और जैन धर्म का उदय हुआ, वस्तुतः सर्वाधिक बुद्धित्ता तो इसी में है कि हम वैदिक साहित्य की कोई निश्चित तिथि न मानें।[1]

इसी विचार सरणि को मैक्डॉनल ने इसप्रकार प्रस्तुत किया है—"ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियों का भण्डार है; इसकी साहित्यिक प्रौढ़ता और संस्कृति के निखरे हुए स्वरूप को देखकर सहज ही अनुमान हो जाता है कि इतना उच्चकोटि का साहित्य सहसा प्रादुर्भूत नहीं हुआ होगा। निश्चय ही इसके सत्ता में आने के पहले साहित्य और संस्कृति की अनेक परम्पराएँ पनपी होंगी, समाज ने अनेक उत्थान पतन देखे होंगें। अनेक प्रकार के संघषों ने जाति की जीवनी शक्ति को अधिकाधिक दृढ़ और सक्षम बनाया होगा और उसमें अनेक प्रकार के साहसों का आधान किया होगा जिसमें कष्टों और कठिनाइयों को सहते हुए भी आर्य जाति ने विकास की दशा में अधिकाधिक क्षमता प्राप्त की।"[2]

---

1. विण्टरनित्ज — ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम खण्ड पृष्ठ 293 - 312.

   The more prudent course, however, is to steer clear of any fixed dates and to guard against the extremes of stupendously ancient period or a ludicronsly modern period.

2. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) भूमिका पृष्ठ — 11.

2

संहिता साहित्य—ऋग्वेद

वेद शब्द के अर्थ,वेद के महत्त्व तथा वेद के रचनाकाल के विवेचन के उपरान्त इस विस्तृत वैदिक वाङ्मय का परिचय संक्षिप्त रूप में इस अध्याय में प्रस्तुत है ।वेद के प्रधानतः दो भाग किए जाते है—संहिता तथा ब्राह्मण । वस्तुतः तो वेद शब्द का प्रयोग ही मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों के लिए सम्मिलित रूप में ही किया जाता रहा है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'(आपस्तम्ब-यज्ञ परिभाषा 31) । जिनमें उल्लिखित देवता की स्तुति हो और जिनसे यज्ञादि अनुष्ठान सम्पन्न हों,वे मन्त्र कहलाते हैं । मन्त्रों के समुदाय का नाम संहिता है । संहिता का सामान्य अर्थ है—संग्रह । अतः विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का संग्रह ही संहिता है । मन्त्रों के विस्तृत व्याख्या-परक ग्रन्थ ब्राह्मण है । 'ब्रह्मन्' शब्द के विविध अर्थों में से एक अर्थ 'यज्ञ' भी है । अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं का वर्णन करने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण गन्थ कहलाए। इन ब्राह्मण ग्रन्थों के भी तीन भाग मिलते हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् । जैसा अभी ही कहा जा चुका है,ब्राह्मण ग्रन्थों में संहिताओं के मन्त्रों की विशद व्याख्या के साथ साथ यज्ञों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है । किन्तु आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञों में निहित दार्शनिक तत्त्व एवं यज्ञों के आध्यात्मिक स्वरुप का वर्णन मिलता है । ये आरण्यक ग्रन्थ जनसाधारण से दूर जंगलो-अरण्यों-में पढ़े जाने के कारण ही सम्भवतः आरण्यक कहलाए । ब्राह्मण ग्रन्थ गृहस्थों के लिए उपादेय हैं । किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आरण्थकों का निर्माण वानप्रस्थियों के लिए हुआ होगा । उपनिषद् से तात्पर्य ब्रह्मविद्या से है ।

वेद ज्ञानराशि होने के कारण एक है किन्तु पारस्परिक स्वरूप की दृष्टि से तीन भिन्न प्रकार का होता है और त्रयी नाम से अभिहित किया जाता है । जैमिनीय सूत्र ने मन्त्रों के इस स्वरूप भेद का सुन्दर कथन किया है । जिस मन्त्रसमूह में अर्थदृष्टि से पादव्यवस्था की गई है,वे छन्दोबद्ध मन्त्र 'ऋक्' अथवा ऋचा कहलाते हैं ।[1] इन ऋचाओं पर जो गीति गाए जाते हैं उन गेय मन्त्रों को साम

1. जैमिनी सूत्र 2 / 1 / 35 — तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।

कहा जाता है ।[1] ऋचाओं तथा साम से भिन्न मन्त्रों को 'यजुष्' संज्ञा दी गई ।[2] इन यजुषों में यागानुष्ठान के विनियोग वाक्य ही विशेषतः समाविष्ट थे ।

यजुर्वेद में वाक्तत्व (शब्द ब्रह्म) को ऋक्, मनस्तत्त्व को यजुष् और प्राणतत्व को सामन् कहा गया है ।[3] ये तीनों ही—शब्द, मन तथा प्राणतत्त्व एकीकृत होकर सम्पूर्ण मन्त्रसमूह का बोध कराते हैं । ब्राह्मण गन्थों ने इन ऋक् आदि शब्दों की आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या भी प्रस्तुत की है । भिन्न भिन्न ब्राह्मणग्रन्थों ने ब्रह्म, वाणी, प्राण, अमृत और भूलोक को ऋक् (ऋग्वेद) कहा है ।[4]

मन्त्रों का समूह संहिता नाम से अभिहित होता है । विभिन्न प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान में भिन्न भिन्न ऋत्विजों-पुरोहितों के परस्पर विभिन्न कार्य होते थे । अतः यज्ञानुष्ठान की दृष्टि से मन्त्रसंहिताओं का चतुर्विध संकलन हुआ । कृष्ण-द्वैपायन ऋषि ने संकलन का यह कार्य किया[5] और इसीलिए उनका नाम वेदव्यास हुआ ।[6] व्यास ने मन्त्रों को सम्यक् व्यवस्थापित करके चार संहिताओं में सम्पादित किया और अपने पुत्र सहित पाँच शिष्यों को पढ़ाया ।[7] व्यास ने पैल नामक शिष्य को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद और सुमन्तु को अथर्ववेद पढ़ाया । ये चारों व्यास शिष्य क्रमशः सूत्राचार्य, भाष्याचार्य, भारताचार्य और महाभारताचार्य नाम से गृह्यसूत्रों में उल्लिखित हुए हैं ।[8]

जैसा उल्लेख किया जा चुका है कि प्रत्येक यज्ञानुष्ठान के विभिन्न कार्यो के सुचारु निष्पादन के लिए चार उपयुक्त ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—

1. होता—यह यज्ञ के अवसर पर देवताविशेष की प्रशंसा के मन्त्रों का उच्चारण करता

---

1. जैमिनी सूत्र 2 / 1 / 36 — गीतिषु सामाख्या ।
2. जैमिनी सूत्र 2 / 1 / 37 — शेषे यजुः शब्दः ।
3. यजुर्वेद 36 / 1 — ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये ।
4. कौषीतकी ब्राह्मण 7/10 — ब्रह्म वा ऋक्; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण 1/ 9/2 वागित्यृक्; शतपथ ब्राह्मण 7/ 5/ 2/12 – प्राणी वा ऋक्; कौषीतकी ब्राह्मण 7 / 10 अमृतं वा ऋक्; षडविंश ब्राह्मण 1 / 5 अयं (भू) लोक : ऋग्वेद ।
5. दुर्गाचार्य निरुक्त वृत्ति 1 / 20 —वेदं तावदेकं सन्तंम् अतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः । सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः ।
6. महाभारत – आदिपर्व 63 /88 — विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ।
7. महाभारत – आदिपर्व 63 /87 – 90 — वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥
   सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ।
   प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च ॥
8. आश्वलायन गृह्य सूत्र 3 / 3 / 5 —सुमन्तुजैमिनिवैशाम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारताचार्याः
   कौशीतकी गृह्य सूत्र 2 / 5 / 3

हुआ उस देवता का आह्वान करता है। इस हौत्रकर्म के उपयुक्त समस्त मन्त्रों का संग्रहण ऋग्वेद संहिता में किया गया है।

2. उद्गाता—उद्गाता का शाब्दिक अर्थ है—उच्च स्वर से गान करने वाला। यह उद्गाता तत्तत् देवों की स्तुति में स्वर सहित मन्त्रगान करता है। इसी गान की पारिभाषिक संज्ञा स्तोत्र है। इस औद्गात्रकर्म के लिए आवश्यक मन्त्रों का संग्रह ही सामवेद संहिता है।

3. अध्वर्यु—यह यज्ञों का विधिवत सम्पादन करता है। अध्वर्यु यज्ञ के प्रमुख कर्मो का निष्पादक प्रधान ऋत्विज् है। इसी आध्वर्यव कर्म के लिए आवश्यक मंत्रों का संकलन यजुः संहिता में प्राप्त होता है।

4. ब्रह्मा—इस का कार्य यज्ञ का सम्यक् निरीक्षण करना था जिससे यज्ञ के निर्विघ्न अनुष्ठान में कोई बाधा अथवा त्रुटि न हो। यदि यज्ञ में मन्त्रों के उच्चारण में कोई त्रुटि हो जाती है और उससे किसी प्रकार के विघ्न की संभावना होती है तो ब्रह्मा तुरन्त मंगलकारी मन्त्रों का उच्चारण करके उस विघ्नसम्भावना को नष्ट कर देता है। इस प्रकार यज्ञीय अनुष्ठान के नाना दोषों तथा वैदिक स्वरों में सम्भाव्य त्रुटियों का परिमार्जन करना ब्रह्मा का कार्य है। इसीलिए ब्रह्मा के विशेष महत्व का पौनः पुन्येन कथन हुआ और ब्रह्मा को ही यज्ञ का अध्यक्ष कहा गया। यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण विधि के सूक्ष्म निरीक्षण के लिए उत्तरदायी होने के कारण ब्रह्मा वेदत्रयी ज्ञाता होता था। किन्तु उसका अपना वेद अथर्ववेद ही था।

संहिताओं के इस चतुर्विध संकलन के उपरान्त प्रत्येक वेद की अपनी भिन्न भिन्न शाखाएँ प्रवर्तित हुई। इस प्रत्येक शाखा के अपने अपने ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् थे। किन्तु कालक्रम के प्रवाह में उनमें से अनेक लुप्त हो गए। इन चारों संहिताओं का विवरण इस प्रकार हैं।

ऋग्वेद संहिता

ऋग्वेद संहिता सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। पाश्चात्य किंवा भारतीय-सभी विद्वानों ने भाषा, भाव तथा प्राचीनता आदि अनेक दृष्टियों से इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। चारों वेदों में परिमाण की दृष्टि से भी यह सर्वाधिक विशालकाय है। परवर्ती ब्राह्मण साहित्य ने भी चारों वेदों में ऋग्वेद को विशेष महत्त्व दिया। स्वयं ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में यज्ञरूपी परमेश्वर से सर्वप्रथम ऋचाओं का ही आविर्भाव हुआ। साम आदि की उत्पत्ति तो उसके बाद ही हुई।[1] तैत्तिरीय संहिता ने भी स्पष्टतया कहा कि 'साम और यजुः के द्वारा किया गया यज्ञ का विधान शिथिल ही रहता है ऋक् के द्वारा किया गया अनुष्ठान ही दृढ़ होता है।'[2]

सम्प्रति ऋग्वेद का दो प्रकार का विभाजन उपलब्ध होता है—एक अष्टक-क्रम एवं दूसरा मण्डल-क्रम।

---

1. ऋग्वेद 10 / 9 / 90 — तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥

2. तैत्तिरीय संहिता 6 / 5 / 10 / 3 — यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तत्। यद् ऋचा तद् दृढमिति।

1 अष्टक-क्रम—इस क्रम की दृष्टि से सम्पूर्ण ऋग्वेद अष्टक, अध्याय, वर्ग तथा मन्त्र—इस रूप में विभाजित है। पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं और हर अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार ऋग्वेद में 64 अध्याय हैं। किन्तु प्रत्येक अध्याय में वर्गों की संख्या नियत नहीं है और न ही वर्ग में मन्त्रों की संख्या सुनिश्चित है। सामान्यतया पाँच मन्त्रों का एक वर्ग है; किन्तु किसी किसी वर्ग में एक मन्त्र तथा किसी वर्ग में नौ मन्त्र तक मिलते हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद में 8 अष्टक, 64 अध्याय, 2006 वर्ग एवं 10,552 मन्त्र हैं। किन्तु ऋग्वेद का यह विभाजन प्राचीन होते हुए भी वैज्ञानिक स्वीकार नहीं किया गया है।

2 मण्डल क्रम—ऋग्वेद का यह विभाजन क्रम अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने पर भी अधिक सरल, वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक है। इस क्रम की दृष्टि से सम्पूर्ण ऋग्वेद मण्डल, सूक्त और ऋचाओं अथवा मन्त्रों में विभक्त है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में 10 मंडल हैं, इसी से निरुक्तादि ग्रंथों में ऋग्वेद 'दशतयी' नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद का यह विभाजन निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

मण्डल	सूक्तसंख्या	मन्त्रसंख्या	ऋषि नाम
प्रथम	191	2006	मधुच्छन्दा, मेधातिथि, दीर्घतमा आदि
द्वितीय	43	429	गृत्समद एवं वंशज
तृतीय	62	617	विश्वामित्र एवं वंशज
चतुर्थ	58	589	वामदेव एवं वंशज
पंचम	87	727	अत्रि एवं वंशज
षष्ठ	75	765	भरद्वाज एवं वंशज
सप्तम	104	841	वसिष्ठ वंशज
अष्टम	92 + 11 बालखिल्य सूक्त	1716	कण्व, भृगु, अंगिरस्
नवम	114	1108	सोम पवमान(सोम विषयक मन्त्र)
दशम	191	1754	त्रित, विमद, श्रद्धा, कामायनी आदि
	1028	**10552**	

उपर्युक्त क्रम सरणि से ऋग्वेद के मण्डल विभाग स्वरूप में संकलन की वैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय से सप्तम तक के छः मण्डलों में एक एक ही ऋषि अथवा उसके पुत्रादि के मन्त्र संकलित हैं। अतः पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें वंशमण्डल(Family book) का नाम दिया है। और इसी अंश को ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग घोषित किया है। प्रथम एवं दशम मण्डल को अपेक्षाकृत अर्वाचीन कहा जाता है। दशम मण्डल के वैशिष्ट्य एवं अर्वाचीनता पर आगे विचार किया जाएगा। ऋग्वेद के मण्डलक्रम पर विचार करने से स्पष्ट दीखता है कि संकलनकर्ता ने कुछ सिद्धान्तों के अनुरूप ही अपना कार्य किया—

1. प्रत्येक मण्डल में प्राथमिकता की दृष्टि से विशिष्ट देवों का एक क्रम रखा गया

है—अग्नि, इन्द्र, मरुत्, अश्विनी तथा अन्य। यदि अग्नि के मन्त्र उस मण्डल में नहीं हैं तो सर्वप्रथम इन्द्र को स्थान दिया गया है। अग्नि एवं इन्द्र दोनों के अभाव में मरुत् का वर्णन एवं स्तुति सर्वप्रथम पाई जाती है।

2. वंशप्रवर्तक ऋषि एवं उसके परिवारों से सम्बद्ध मन्त्रों को एक मण्डल में स्थान दिया गया। इन वंशमण्डलों में सर्वप्रथम वंशप्रवर्तक ऋषि के मन्त्र दिए गए। उन सूक्तों के समाप्त हो जाने पर ही उसके पुत्र अथवा पौत्रों के सूक्त आते हैं।

3. सोम सम्बन्धी मन्त्रोंकी संख्या प्रचुर होने के कारण उन समस्त सूक्तों को एक ही—नवम मण्डल—में संगृहीत कर दिया गया और उसका नाम ही 'सोमपवमान' मण्डल रखा गया।

4. जो सूक्त इस ऋषिक्रम अथवा विषयक्रम में सम्यग्तया समाहित नहीं किए जा सके, उन सूक्तों को पृथक् एवं अन्त में स्थान दिया गया।

ऋग्वेद में 11 सूक्त ऐसे भी हैं जो **बालखिल्यसूक्त** नाम से प्रसिद्ध हैं। ये बालखिल्यसूक्त अष्टममण्डल में सूक्त 49 से लेकर 59 तक हैं तथा इन 11 बालखिल्य सूक्तों में कुल 80 मन्त्र हैं। 'खिल' का शब्दार्थ तो होता है—पीछे से जोड़ा गया अथवा परिशिष्ट। किन्तु इस दृष्टि से भी इन सूक्तों के वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं होता। न तो प्राचीन ऋषियों ने इन बालखिल्य सूक्तों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया और न ही संग्रह कर्ताओं ने इन सूक्तों की गणना मण्डल और अनुवाकों का विभाजन करते समय की है। यद्यपि कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में बालखिल्य सूक्तों का उल्लेख है तथापि आचार्य सायण ने भी इन सूक्तों पर भाष्य नहीं लिखा है। इन सूक्तों का न तो पदपाठ ही उपलब्ध होता है और न ही अक्षर गणना में इनका समावेश किया जाता है। किन्तु स्वाध्याय के समय इन बालखिल्य सूक्तों के पढ़ने का नियम अवश्य है।

ऋग्वेद का विन्यास क्रम—भारतीय दृष्टि से सम्पूर्ण ऋग्वेद किंवा वेदमात्र ही नित्य हैं, जिनमें उपचयापचय नहीं है। इस दृष्टि के कारण आस्थावान् भारतीय यह विचार ही नहीं करता कि वेद में किसी भाग की रचना पहले हुई अथवा अन्य अंश परवर्ती समय में रचा गया। किन्तु इस भारतीय अवधारणा का सर्वप्रथम खण्डन पाश्चात्य विचारकों ने किया। तदनुसार वेद भी साहित्यिक रचनाएँ हैं। संहिता में जिन विभिन्न ऋषियों के मन्त्र संकलित हैं, वे सभी समकालीन नहीं थे। इनमें कुछ प्राचीन ऋषियों के मन्त्र हैं तथा कुछ अन्य अर्वाचीन ऋषियों के मन्त्र हैं। अतएव ऋग्वेद के समस्त सूक्त अथवा मण्डल किसी एक ही समय की रचना न होकर भिन्नकालीन रचनाएँ हैं।

पाश्चात्य विचारकों से सहमति प्रगट करते हुए घाटे प्रभृति कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी यही स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में भिन्नकालीन अनेक मण्डल ही एकत्र संगृहीत कर दिए गए हैं। स्थूलतया ऋग्वेद के तीन भाग दृष्टिगोचर होते हैं—सर्वप्रथम द्वितीय से सप्तम तक के छह मण्डलों के सूक्तों का विन्यास हुआ। ऋग्वेद का यह भाग सबसे प्राचीन भी है और वर्ण्य विषय, देवताक्रम तथा अन्य तथ्यों में भी लगभग समरूप है। जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि इन छह मण्डलों में प्रत्येक का सम्बन्ध केवल एक ही ऋषि और उसके पुत्रादि से है। इन छहों मण्डलों में सर्वप्रथम अग्नि की स्तुति है, उसके पश्चात् इन्द्र की स्तुति है और उसके बाद अन्य देवताओं की स्तुतियाँ की गई है। दूसरे से सातवें मण्डल तक सूक्तों की संख्या प्रायः बढ़ती ही गई है।

ऋग्वेद के इस मूल भाग का रचना के उपरान्त प्रथम तथा अष्टम मण्डल की रचना हुई। इन दोनों मण्डलों में कण्व ऋषि, उनके वंशजों तथा अन्य ऋषियों के मन्त्र प्राप्त होते हैं। दोनों ही मण्डलों में प्रगाथा छन्द प्राप्त होता है। प्रगाथा छन्द जगती और त्रिष्टुप् छन्द का मिश्रण होता है। इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्र ऐसे भी है जो प्रथम और अष्टम दोनो ही मण्डलों में पाए जाते है। 'ऐसा प्रतीत होता है कि समान स्वरूप वाले इन दोनों मण्डलों को वंशमण्डलों के पूर्व और पश्चात् जोड़ दिया गया है।' ऐसा या तो इसलिए हुआ होगा कि उनमें कालक्रम का इसी प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध है और या इसलिए कि ये दोनो दो भिन्न कण्वशाखाओं की कृतियाँ हैं।

ऋग्वेद के नवम मण्डल के समस्त मन्त्र सोम विषयक हैं। वंशमण्डलों में पवमान सोम विषयक मन्त्रों का सम्पूर्ण अभाव है। किन्तु नवम मण्डल के सोम विषयक मन्त्रों के ऋषि वे ही हैं जो वंश मण्डलों के ऋषि हैं। प्रथम तथा अष्टम मण्डल में सोम सम्बन्धी तीन सूक्त अवश्य प्राप्त होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित नहीं होगा कि छह वंशमण्डलों की रचना और उनके पूर्व तथा पश्चात् प्रथम एवं अष्टम मण्डल भी संगृहीत हो चुकने पर सोमरस सम्बन्धी सभी मन्त्र उन वंशमण्डलों से निकाल कर नवम मण्डल के रूप में एकत्रित कर दिए गए। इस नवम मण्डल को अलग संगृहीत करने का एक कारण यह भी जान पड़ता है कि जहाँ अन्य मण्डलों के पुरोहित 'होता' कहे जाते हैं वहीं इस नवम मण्डल के पुरोहित 'उद्गाता' कहलाते हैं।

ऋग्वेद का दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है। विषय, भाषा तथा परिमाण की दृष्टि से यह अन्य सभी मण्डलों से भिन्न है। अत: दशम मण्डल का संकलन अन्य नौ मण्डलों के संगृहीत हो जाने के बाद ही हुआ। विभिन्न वंशों के विभिन्न ऋषियो ने इसके सूक्तों की रचना की है। दशम मण्डल में देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध सूक्त अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और लौकिक सन्दर्भों का समावेश अधिक है। नासदीय, पुरुष तथा हिरण्यगर्भ सूक्त में दार्शनिक विचारों की प्रतिष्ठा है तो विवाह और अन्त्येष्टि सूक्तों में इन दो भारतीय संस्कारों का विशद वर्णन है। इनके अतिरिक्त अनेक संवादात्मक, दान स्तुति विषयक तथा प्रहेलिकात्मक सूक्तों का भी दशम मण्डल में समावेश है।

ऋग्वेद के सूक्तों अथवा मण्डलों में प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता की यह समस्त व्यवस्था अधिकांश भारतीय विद्वान स्वीकार नहीं करते। तदनुसार वेदों का संकलन अथवा संग्रहण तो अवश्य हुआ किन्तु मण्डलों में पूर्वापरता के स्थान पर विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर मण्डलों को व्यवस्थित किया गया।

ऋग्वेद की शाखाएँ—पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख किया है,[1] जिसमे ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएं कही गई है। किन्तु शौनक ऋषि के 'चरणव्यूह' ग्रन्थ में ऋग्वेद की पाँच प्रमुख शाखाओं का ही उल्लेख है जिनके नाम इस प्रकार हैं—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन एवं माण्डूकायन। इन पाँचों शाखाओं में से

---

1. महाभाष्य — पस्पशाह्निक — चत्वारो वेदा: सांगा सरहस्या बहुधाभिन्ना: । एकशतमध्वर्युशाखा: । सहस्रवर्त्मा सामवेद: । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । नवधाऽथर्वणो वेद: ।

आजकल प्रचलित ऋग्वेद संहिता शाकल शाखा की है ।

ऋग्वेद की विषय वस्तु—विभिन्न देवों के स्तुतिपरक मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में किया गया था । इस दृष्टि से ऋग्वेद का प्रतिपाद्य देवस्तुति है । ऋग्वेद में सर्वत्र इसी की प्रधानता भी है किन्तु स्थान-स्थान पर ऋग्वेद में अन्य विषय भी प्राप्त होते है । इस दृष्टि से ऋग्वेद का दशम मण्डल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । जिसने ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषय को विविधता प्रदान की । यास्क ने ऋग्वेद की सम्पूर्ण विषयवस्तु को प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक—इन भागों में विभाजित किया था । इसी को आधार बना कर घाटे महोदय ने ऋग्वेद के सम्पूर्ण वर्ण्य विषय का धर्म निरपेक्ष, धार्मिक तथा दार्शनिक सूक्तों की दृष्टि से विभाजन किया । प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ. विण्टर नित्स ने बहुत कुछ मैक्डॉनल की विचार सरणि का अनुसरण करते हुए ऋग्वेद की विषयवस्तु का विश्लेषण किया और समस्त ऋग्वैदिक सूक्तों को काव्यात्मक गीत, यज्ञीय स्तुति, दार्शनिक सूक्त, संवाद सूक्त, धर्मनिरपेक्ष सूक्त, ऐन्द्रजालिक मन्त्र तथा दानस्तुति आदि के रूप में विभाजित किया । किन्तु अनेक अन्य विद्वानों ने प्रतिपाद्य की दृष्टि से ऋग्वेद के सूक्तों को चार श्रेणियों में ही समाहित कर दिया है जो उचित ही जान पड़ता है—

(1) धार्मिक सूक्त, (2) दार्शनिक सूक्त (3) लौकिक सूक्त, एवं (4) संवाद सूक्त ।

1 धार्मिक सूक्त—ऋग्वेद का अधिकांश भाग ही धार्मिक सूक्तों की श्रेणी में आता है । इन सूक्तों में विभिन्न देवों को सम्बोधित करते हुए उनकी स्तुति की गई है । अग्नि, इन्द्र, मरुत्, अश्विनी, वरुण, विष्णु आदि ऋग्वेद के प्रमुख देवता हैं जिनके स्तुतिपरक मन्त्रों की संख्या अधिक है । इनके अतिरिक्त विश्वेदेवा, मित्रावरुण, पूषन्, उषस्, रुद्र, सोम, वायु, पर्जन्य, पृथिवी, आदित्य, सरस्वती, प्रजापति आदि देवों की स्तुति के मन्त्र ऋग्वेद में प्राप्त होते है । इनमें से प्रमुख सभी देव विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप हैं किन्तु उनका वर्णन व्यक्ति के रूप में किया गया है । इन सभी मन्त्रों में इन विभिन्न देवों की स्तुति के साथ-साथ उनके स्वरूप, कार्यो, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का भी सुन्दर वर्णन हुआ है । सभी देवों में सामान्य रूप से तेज, पवित्रता, दया, वैदुष्य, हितकारिता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं किन्तु कतिपय व्यक्तिगत विशिष्टताएँ भी है । इन सभी देवों का चरित्र उच्च कोटिक है । वे न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ एवं कर्तव्यरत हैं । इनमें भी वरुण सबसे अधिक न्यायपालक चित्रित हुआ है जो ऋत् के उल्लंघन को कदापि क्षमा नहीं करता ।

यास्क ने निरुक्त के दैवत काण्ड (अध्याय 7 से 12) में समस्त वैदिक देवताओं को तीन भागों में विभक्त किया है और उन तीनों विभागों में एक एक देवता को प्रमुख स्थान दिया है । पृथिवीस्थानीय देव अग्नि है, अन्तरिक्षस्थानीय देव वायु या इन्द्र है तथा द्युस्थानीय देव सूर्य है । विभिन्न गुणों तथा विभिन्न कार्यो के कारण इन तीनों देवों की अनेक नामों से स्तुति की गई है ।[1] प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रोफेसर मैक्डॉनल ने भी वैदिक देवों पर विस्तृत विवेचन किया,[2] एवं सभी देवों को आठ भागों में विभक्त किया—

---

1. निरुक्त 7 / 5 — तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानः । वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः । सूर्यो द्युस्थानः ।.........
   तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । अपि वा कर्म पृथकत्वात् ।
2. मैक्डानल — वैदिक माइथोलॉजी ।
   मैक्डानल—संस्कृत साहित्य का इतिहास — प्रथम भाग (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ 57 – 102

(1) द्युस्थानीय देवता—द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, अश्विनौ।

(2) अन्तरिक्षस्थानीय देवता—इन्द्र, अपांनपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अजएकपात्, रुद्र, मरुद्गण, वायु, पर्जन्य, आपः।

(3) पृथिवीस्थानीय देवता—पृथिवी, अग्नि, वृहस्पति, सोम, नदियाँ।

(4) अमूर्त देवता—प्रजापति, विश्वकर्मा, त्वष्टा, मन्यु, अदिति, श्रद्धा।

(5) देवियाँ—उषस्, वाक्, सरस्वती, रात्रि।

(6) युगलदेव—इन्द्राग्नी, इन्द्राविष्णु, मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ।

(7) देवगण—रुद्राः; आदित्याः, विश्वेदेवाः, वसवः।

(8) अवर देवता—गन्धर्व, अप्सरस्, ऋभुगण।

2 दार्शनिक सूक्त—दार्शनिक तत्त्व विवेचन सम्बन्धी सूक्त अपेक्षाकृत अर्वाचीन दशम मण्डल में अधिकांशतः उपलब्ध होते हैं। ऐसे दार्शनिक सूक्तों में नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त तथा वाक् सूक्त अपनी नवीन कल्पना एवं दार्शनिक गम्भीरता के कारण विद्वज्जगत् में नितान्त प्रसिद्ध एवं प्रिय रहे हैं। यहाँ इन सूक्तों का अत्यल्प विवेचन अप्रासंगिक न होगा।

नासदीय सूक्त (10/129) जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करता है। ऋषि कहता है—'सृष्टि के प्रारम्भ मे न असत् था, और न सत्; न तो दिन था और न रात; सृष्टि का अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न नहीं था। सर्वप्रथम काम की उत्पति हुई। इसी 'काम' की अभिव्यक्ति सृष्टि की विभिन्न स्तरों में प्रतिफलित होती है। उस समय अपनी स्वाभाविक शक्ति से जीवित एक ही तत्त्व था जो बिना वायु के भी साँस लेता था। उस तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।' वस्तुतः यह सूक्त भारतीय आर्ष दृष्टि के अपूर्व दार्शनिक चिन्तन का अद्भुत परिचायक है। अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा ही इस सूक्त का गम्भीर रहस्य है।

हिरण्यगर्भ सूक्त (10/121) में एक प्रमुख देव की ऋषिकल्पना बद्धमूल दिखाई देती है। यही प्रमुख देव पुरुष, प्रजापति, या हिरण्यगर्भ नाम से स्तुत है। यह हिरण्यगर्भ सृष्टि के आदि में विद्यमान, समस्त विश्व का धारणकर्ता तथा रक्षक, समग्र भूतों का शासक राजा तथा मृत्यु का भी शासनकर्ता है। इस सूक्त के अधिकांश मन्त्रों का अन्तिम चरण है—'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। इस चरण में 'कस्मै' पद को लेकर पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टियों में पर्याप्त एवं मूलभूत अन्तर है। पाश्चात्य विद्वानों ने 'कस्मै' को 'किं' शब्द की चतुर्थी का एक वचन मान कर उसका अर्थ 'किसके लिए' किया है। किन्तु यह अर्थ मन्त्र अथवा सम्पूर्ण सूक्त के साथ सही नहीं बैठ पाता। निरुक्त तथा सायण आदि की दृष्टि में 'कः' शब्द प्रजापति का बोधक है। 'किं' शब्द से भी अनिर्वचनीयता का बोध होने के कारण वह भी सौख्यभावसम्पन्न प्रजापति का ही सूचक है।

पुरुष सूक्त (10/90) दार्शनिक सूक्तों में अन्यतम माना जाता है। जगत् के दुर्बोध्य रहस्य को समझने में तत्पर भारतीय मनीषा की रहस्यभेदिनी तीव्र अन्तर्दृष्टि इस पुरुष सूक्त में अपनी

समस्त गम्भीरता और गौरव के साथ उदित हुई है। वह पुरुष त्रिकाल में भी व्याप्त है। वह त्रिकाल ही है और उससे परे भी है। इसी पुरुष सूक्त में वर्णोत्पति से सम्बद्ध[1] मन्त्र भी हैं। इस प्रकार यह पुरुष सूक्त दार्शनिक चिन्तन के साथ साथ वैदिक आर्यो की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं का भी परिचायक है।

3 लौकिक सूक्त—ऋग्वेद के जिन सूक्तों में न तो सृष्टिविचार ही है और न ही विभिन्न देवताओं को सम्बोधित किया गया है, अपितु जो सूक्त लौकिक जीवन तथा दैनन्दिन व्यवहार से सम्बद्ध विषयों का रोचक वर्णन करते हैं, उन सूक्तों को विद्वानों ने लौकिक सूक्त संज्ञा प्रदान की है। ऐसे विषय अधिकांशतया अथर्ववेद की अपनी विशेषता माने जाते हैं किन्तु ऋग्वेद में भी वे उपलब्ध हैं। दार्शनिक सूक्तों की भाँति ये लौकिक सूक्त भी अधिकांशतया दशम मण्डल में ही हैं। विवाह के सुन्दर कवित्वमय विधि से सम्बद्ध सूक्त (10/85), राजा की प्रशस्ति (10/173-174), व्यक्ति के दूरगामी मन को लौट आने की प्रार्थना (मनः आवर्तन सूक्त 10/58), द्यूतकर का लोभ एवं विषाद (अक्षसूक्त 10/34), शरीर के विभिन्न अंगों का वैज्ञानिक विवरण (10/163), सपत्नी को नष्ट कर देने की प्रार्थना (सपत्नघ्न सूक्त 10/166), रोगपीड़ित मनुष्य की व्याधिहरण का उपाय (10/161) तथा ओषधिसूक्त (10/97) तथा मण्डूकसूक्त (7/103) आदि सूक्त लौकिक विषयों से सम्बद्ध ही हैं।

4 संवाद सूक्त—ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों में कथोपकथन की प्रधानता के कारण उन्हे संवाद सूक्त का नाम दिया गया है। ये सूक्त संख्या में लगभग 20 हैं और ऋग्वेद को प्रबन्धकाव्यों और नाटकों से जोड़ देते हैं। इन संवादसूक्तों को लेकर पाश्चात्य विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है। डॉ. ओल्डेनबर्ग का मत है कि ऋग्वेद में गद्यपद्यात्मक आख्यान थे। उसमें से गद्यभाग केवल कथात्मक होने के कारण लुप्त हो गया और रोचक तथा मञ्जुल भाग संवाद सूक्त के रूप में अवशिष्ट रह गया। अतः मूलतः ये संवाद सूक्त आख्यान थे। इसीलिए डॉ. ओल्डेनबर्ग ने इन सूक्तों को 'आख्यान सूक्त' ही कहा है। डॉ. सिल्वाँ लेवी, डॉ. वॉन श्रोदर तथा डॉ. हर्टल का मत है कि ये संवाद सूक्त नाटक के अवशिष्ट अंश है। यज्ञ के अवसर पर इन संवादसूक्तों का संगीत तथा पात्रों के उचित सन्निवेशपूर्वक वस्तुतः अभिनय हुआ करता था। डॉ. विण्टरनित्स का कथन है कि प्राचीनकाल में की जाने वाली वीर स्तुति ही इन सूक्तों में रूपान्तरित है और इनका सम्बन्ध महाकाव्य और नाटक दोनो के साथ है अतः ये संवादसूक्त लोकगीत काव्य (बैलेड) के एक प्रकार हैं।

डॉ. राममूर्ति शर्मा ने पाश्चात्य विद्वानों के इन विचारों का इस प्रकार परीक्षण किया है। "इन संवाद सूक्तों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के ये विविध मत एकांगी हैं।"[2] तत्कालीन इतिहास का सुरक्षण, सांस्कृतिक चित्रण, कथा के प्रति नैसर्गिक आसक्ति, कान्तासम्मित उपदेश, आध्यात्मिक तत्त्वों की अभिव्यंजना आदि इन आख्यानों के उपनिबन्धन के प्रयोजन जान पड़ते हैं।[3]

---

1. ऋग्वेद 10 / 90 / 12 — ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
   उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
2. शर्मा, राममूर्ति — वैदिक साहित्य का इतिहास — पृष्ठ 50.
3. शर्मा, राममूर्ति — वैदिक साहित्य का इतिहास — पृष्ठ 48 – 53.

ये संवाद सूक्त ऋग्वेद के प्रथम,द्वितीय,तृतीय आदि मण्डलों में भी प्राप्त हैं किन्तु दशम मण्डल में इनकी संख्या अधिक है। इन्द्र मरुत् संवाद (1/165,1/170), अगस्त्य लोपामुद्रा संवाद (1/179), विश्वामित्र नदी संवाद (3/33), आदि संवाद सूक्तों के अतिरिक्त् अन्य कुछ संवाद सूक्त अधिक प्रसिद्ध हैं। पुरुरवा उर्वशी संवाद (10/95) यम-यमी संवाद (10/10) तथा सरमा-पणि संवाद (10/30) कलात्मक दृष्टि से अधिक रुचिर,नाटकीय ओजस्विता से परिपूर्ण तथा भावोत्पादक हैं।

ऋग्वेद के विषयवस्तु के विवेचन के पश्चात् ऋग्वेद में आए हुए कतिपय महत्त्वपूर्ण देवताओं के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा। लगभग सभी पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने वैदिक साहित्य का इतिहास लिखते समय अपनी अपनी दृष्टि से ऋग्वेद के प्रमुख देवस्वंरूप का वर्णन अवश्य किया है। प्राचीन भारतीय याज्ञिक विधान के अनुसार प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई देवता अवश्य होता है। आचार्य सायण की सम्मति में वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन करने वाले व्यक्तियो को प्रत्येक मन्त्र के देवता का समुचित ज्ञान होना चाहिए। मन्त्रों से सम्बन्धित देवताओं को समुचित रूप से जाने बिना किसी भी वैदिक अथवा लौकिक कृत्य का फल प्राप्त नहीं होता। दैवतज्ञ ही मन्त्रों के अर्थ को समझ सकता है।[1]

सम्पूर्ण ऋग्वेद में स्तुत विभिन्न देवताओं में कुछ समान विशेषताएँ[2] दृष्टगोचर होती हैं।

1. ऋषि ने स्तुति करते समय प्रत्येक वैदिक देव में शक्ति, बुद्धिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, तेजस्विता अथवा प्रकाश, औचित्य, परोपकारित्व, अमरत्व आदि गुणों को स्थापित किया है। लगभग् सभी प्रमुख देवता सृष्टि की उत्पत्ति,रक्षा तथा संहार करने में सक्षम दिखाई देते है। अर्थात् परवर्ती त्रिदेव का कार्य वेद का एक एक देव ही कर लेता है।

2. गुणों की समानता के साथ साथ कुछ देवताओं में परस्पर उपाधियाँ भी समान बता दी गई हैं। वज्र धारण करना, गायों (जलों) को मुक्त करना, बल नामक असुर का वध करना आदि मुख्यतया इन्द्र के कार्य हैं किन्तु ऋग्वेद में ये कार्य इन्द्र के साथ साथ अग्नि तथा वृहस्पति के भी कहे गए है।

3. समान गुण तथा समान उपाधि धारण करने के कारण ऋग्वेद के देवताओं में परस्पर तादात्म्य भी दिखाई देता है। पृथिवी की अग्नि, विद्युत् और सूर्य—तीनों का तादात्म्य एक अग्नि देव में किया गया है।

4. वैदिक देववाद में एक विचित्र वैशिष्ट्य यह है कि ऋषि जिस भी देवता की स्तुति करता है उसी को सर्वोपरि एवं श्रेष्ठतम रूप में वर्णित कर देता है। इसका एक अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि वैदिक आर्य उस एक मूल परम सत्ता परमेश्वर का ही विभिन्न देवताओं कि रूप में

---

1. बृहद्देवता 1/2— वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः ।
   दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ॥

2. चौबे, ब्रजबिहारी — द न्यू वैदिक सलेक्शन — परिशिष्ट 4 पृष्ठ 34 – 38.

स्तवन किया करते थे। सभी देवता उस परम शक्ति के भिन्न भिन्न प्रतीक थे अतः सभी को सर्वोच्च प्रतिष्ठित किया गया।[1]

5. ऋग्वेद में देवताओं का मानवीकरण भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। देवता भी जन्म लेते हैं और मनुष्य के सदृश हाथ, पाँव, भुजा, मस्तक, मुख आदि अंगो से युक्त शरीर धारण करते हैं। हाथों में विविध आयुध धारण करते है। अत्यधिक प्रकाशशील वस्त्रों तथा अलङ्कारों से स्वयं को अलङ्कृत करते हैं तथा अश्वो से खींचे जाने वाले रथों पर आरूढ़ होते है।

6. सभी देवता मनुष्यों की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उनके यज्ञ मे आकर अग्नि मुख से हविग्रहण करते हैं। प्रसन्न होकर प्रत्येक देवता यजमान के शत्रुओं का संहार करके उसे पुत्र, आयु, आरोग्य, विजय आदि प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त समानताएँ होने पर भी स्वरूपगत वैभिन्य के कारण सम्प्रति ऋग्वेद के कतिपय प्रमुख देवताओं का संक्षिप्त स्वरूप यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

इन्द्र— वैदिक आर्यो का सर्व प्रमुख तथा सर्वाधिक प्रिय देवता इन्द्र है। ऋषियों ने 250 सूक्त इन्द्र की स्तुति में रचे हैं जो ऋग्वेद के लगभग चतुर्थांश के समान है। इसके अतिरिक्त लगभग 50 सूक्त ऐसे हैं जिनमें इन्द्र की स्तुति अन्य देवों– अग्नि, वरुण, वृहस्पति, विष्णु, पूषन् आदि के साथ की गई है।

इन्द्र अन्तरिक्षस्थानीय देवता है। यह पृथिवी और द्यौः का पुत्र है (4/10/4), कहीं देवशिल्पी त्वष्टा को इनका पिता और निष्टिग्री (सायण के अनुसार अदिति) को इन्द्र की माता कहा गया है।(10/101/1) इन्द्र जन्म लेते ही सर्वश्रेष्ठ हो गया और अपने पराक्रम से सभी देवताओं पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया। इन्द्र की शक्ति के सम्मुख आकाश और पृथिवी भी कम्पित होते हैं।[2] इन्द्र ने काँपती हुई पृथिवी को स्थिर किया, उपद्रवी पर्वतों को स्थापित किया, अन्तरिक्ष को अधिक विस्तीर्ण किया और आकाश का स्तम्भन किया (2/12/2)।इन्द्र की शक्ति अतुलनीय है। वह अपने वज्र से पापियों का संहार कर देता है (2/12/10)। इन्द्र का यह वज्र धातु, स्वर्ण अथवा पत्थर का बना हुआ शतपर्व (सौ सन्धियों वाला) तथा सहस्रभृष्टि(हजारो नोक वाला) है तथा देवशिल्पी त्वष्टा ने इस वज्र का निर्माण किया (1/32/2)। वज्र एवं इन्द्र के घनिष्ट सम्बन्ध के कारण वज्र शब्द से निष्पन्न अनेक शब्द-वज्रबाहु, वज्रहस्त, वज्रभृत्, वज्रिन् आदि—इन्द्र के लिए प्रयुक्त होने लगे। युद्ध में जाती हुई दोनों शत्रु सेनाएँ सहायता के लिए इन्द्र को पुकारती हैं (2/12/8)। इन्द्र अपने उपासकों की सहायता करता है तथा उन्हे धन-धान्य पुत्रादि से सम्पन्न करता है।

---

1. निरुक्त 7 / 4 / 8 — महाभाग्यात् देवतायाः एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
   एकस्योत्मोऽन्ये देवाः प्रत्याङ्गानि भवन्ति॥

2. ऋग्वेद 2 / 12 / 1 — यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
   यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

सोमरस का इन्द्र के साथ अनेकविध वर्णन है (1/32/3;2/12/13;8/48/2,10) इन्द्र की सोमपान में तीव्र अभिरुचि है। जो यजमान इन्द्र के लिए सोम पीसते हैं उनकी इन्द्र निरन्तर रक्षा करता है (2/12/6,14,15)। 'सोमपा' यह शब्द ही इन्द्र का विशेषण बन गया है 'इन्द्र इत्सोमपा एकः'। सोमपान करके प्रसन्न इन्द्र विभिन्न बलशाली कार्य करने में प्रवृत्त होता है (1/32/3)। स्वामी दयानन्द ने सोम का अर्थ आनन्द या औषधि मान कर सोमपान का अर्थ आनन्दित होना या औषधिरस का पान करना किया है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सोमपान के प्रसंग में इन्द्र जठराग्नि है और सोम अन्न है। इन्द्र रूपी जठराग्नि के लिए सोम रूपी अन्न परमावश्यक है। आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र यदि मन है तो सोम आनन्द है। मन और आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ऋग्वेद में इन्द्र का सर्वाधिक पराक्रमशाली तथा महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्र-वध है। वृत्र ने जलों को रोक रखा था जैसे पणियो ने गायों को रोक लिया था। जलो का मुख ढँका हुआ था। इन्द्र ने वृत्र को मार कर जलों को प्रवाहित किया।[1] वृत्र के लिए शम्बर, नमुचि तथा अहि आदि अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं (1/32/1;2,12;2/12/3,11) आदि। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का सम्पूर्ण बत्तीसवाँ सूक्त इन्द्र के द्वारा वृत्रवध की घटना का अनेकविध वर्णन करता है। दशम मण्डल में वृत्र कथा का सम्पूर्ण संक्षेप मिल जाता है—'इन्द्र ने वृत्र को मारा, दुर्गों को तोड़ा, नदियों की धारा प्रवाहित की, पर्वतों का भेदन किया और अपने साथियों को अनेक गायों का दान दिया।'[2]

वस्तुतः इन्द्र एवं वृत्र के सँग्राम की यह घटना प्रतीकात्मक है जो विद्युत द्वारा नष्ट किए गए मेघों से बरसते जल का स्मरण दिलाती है। निरुक्तकार यास्क ने इन्द्र को विद्युत तथा वृत्र को मेघ माना है तथा इन्द्रवृत्र युद्ध को विद्युत एवं मेघ का संघर्ष कहा है। वृत्रवध के गौरव के कारण ही इन्द्र का एक प्रमुख विशेषण 'वृत्रहा' है।

ऋग्वेद में इन्द्र की अनेक नामों से स्तुति की गई है। सैकड़ों क्रियाएँ करने के कारण इन्द्र 'शतक्रतु' तथा समृद्ध होने के कारण 'वसुपति' तथा 'मघवन्' है। इन्द्र को 'शचीवान्' अथवा 'शचीपति' कहा गया है। निरुक्तकार शची का अर्थ कर्म, बुद्धि अथवा शक्ति करते हैं। इन्द्र यज्ञीय सवनों में माध्यन्दिन सवन का देवता है क्योकि मध्याह्न के समय इन्द्र (सूर्य) सर्वाधिक प्रकाशमय एवं तेजस्वी होता है। इन्द्र का सम्बन्ध ऋतुओं में ग्रीष्म से, छन्दों में त्रिष्टुप् से, स्तोमों में पञ्चदश स्तोम से, सामों में वृहत्साम से तथा दिशाओं में पूर्व दिशा से है। वृहद्देवता के अनुसार रसादान, वृत्रवध तथा अन्य सब बलकृति इन्द्र का ही कर्म है।[3]

---

1. ऋग्वेद 1 / 32 / 11 — दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार ॥

2. ऋग्वेद 10 / 89 / 7 — जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवभिन्न कुम्भ मा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः ॥

3. बृहद्देवता 2 / 6 — रसादानं तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम्।
स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृतिः ॥

अग्नि—ऋग्वेद के विभिन्न देवों में अग्नि देवता का स्थान इन्द्र के समकक्ष ही है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही इस देवता की स्तुति करता है—'यज्ञ में सर्वप्रथम आधान किए जाने वाले, यज्ञ को प्रकाशित करने वाले, ऋतुओं के अनुसार यज्ञ सम्पादित करने वाले, (देवताओं का) आह्वान करने वाले (तथा) धनप्रदान करने वालों में सर्वश्रेष्ठ अग्निदेवता की (मै) स्तुति करता हूँ।'[1] पृथिवी स्थानीय देवो में अग्रगण्य अग्नि की स्तुति ऋग्वेद के 200 सूक्तों में की गई है। अन्य देवताओं के साथ सम्मिलित रूप में भी अग्नि की स्तुति अनेक सूक्तों में प्राप्त होती है। याज्ञिक प्रधानता के कारण ऋग्वेद के दस मण्डलों में से अष्टम तथा नवम मण्डल को छोड़कर शेष सभी मण्डलों के प्रारम्भिक सूक्त अग्नि की स्तुति से ही सम्बद्ध हैं। 'आधिभौतिक पक्ष में अग्नि का अर्थ साधारण अग्नि है, आधिदैविक पक्ष में इसका अर्थ अग्निदेवता है तथा आध्यात्मिक पक्ष में श्री अरविन्द के अनुसार अग्नि का अर्थ शरीर को उष्ण रखने वाला प्राणतत्त्व है।'

ऋग्वेद के ऋषियों ने अग्नि देवता के अनेक जन्म, नाना रूपों तथा विविध स्थानों का बहुविध वर्णन किया है। अग्नि की उत्पत्ति सामान्यतः दो अरणियों के संघर्षण से होती है अतः अग्नि को 'द्विमातृ' कहा गया है। अग्नि प्रज्वलित होते ही अरणियाँ जलने लगती है, अतः 'अग्नि उत्पन्न होते ही दोनो माताओं को खा जाता है।'[2] अग्नि प्रज्वलित करते समय दोनों अरणियों को पकड़ने में दसों अंगुलियों की आवश्यकता होती है अतः अग्नि को दस कुमारियों की सन्तान भी कहा गया।[3] अरणियों का संघर्षण करने में बल (जोर) लगाना पड़ता है अतः अग्नि को बल का पुत्र कहा गया है—'त्वामाहुः सहसस्पुत्रमाङ्गिरः', 'सहसः सूनुः' आदि। वडवानल के रूप में अग्नि जल से उत्पन्न होता है इसीलिए यह 'अपांनपात्'है (2/35/1...15)। अन्तरिक्षस्थ जल से भी अग्नि की उत्पत्ति बताई गई है। यहाँ अग्नि से तात्पर्य विद्युत् से है। "पृथिवी पर उत्पन्न, वायु से प्रसूत और आकाश में वर्तमान होने के नाते बहुधा अग्नि त्रिरूप माना जाता है। देवताओं ने उसे तीन रूप दिए, उनकी तीन योनियाँ हैं और तीन ही घर हैं। सर्वप्रथम अग्नि का जन्म आकाश में हुआ, दूसरी बार हमारे लिए भूतल पर और तीसरी बार जल में हुआ।"[4] अग्नि अनेक जन्मा भी है। प्रत्येक गृह में अवस्थित होने और अनेक पार्थिव वेदियों में प्रतिदिन प्रज्वलित होने के कारण ही अग्नि के अनेक जन्म कल्पित हुए हैं।

अग्नि देवता के साथ मानव के पारिवारिक जीवन का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, उतना अन्य किसी देवता के साथ नहीं है। इसीलिए ऋषि ने अग्नि को मनुष्य के पिता, भाई, पुत्र, मित्र आदि के रूप में वर्णित किया है। भोजन पकाने के लिए, अन्धकार नष्ट करने के लिए, शीतनिवारण के लिए

---

1. ऋग्वेद 1 / 1 / 1 — अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
   होतारं रत्नधातमम्॥
2. ऋग्वेद 10 / 79 / 4 — तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।
3. ऋग्वेद 1 / 95 / 2 — दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
   तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषीं नयन्ति॥
4. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), प्रथम भाग — पृष्ठ 85

तथा वन्य पशुओं से सुरक्षा के लिए वैदिक आर्यों को अग्नि की आवश्यकता थी। सारे गृहकार्य अग्नि के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते थे। श्रौतयज्ञ 'आहवनीय अग्नि' में, गृहकर्म 'गार्हपत्याग्नि' में और पाकयज्ञ 'दक्षिणाग्नि'में किए जाते थे। 'दमूनस'(घरो में रहने वाला) तथा 'गृहपति' आदि विशेषण अग्नि की इसी विशेषता को प्रगट करते हैं। अग्नि उन व्यक्तियों का मित्र है जो अतिथि की भाँति अग्नि का अपने घर में स्वागत करते हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन अग्नि के लिए ईधन लाते हैं तथा दिन में तीन बार अग्नि को हवि प्रदान करते हैं, उनको अग्नि धन प्रदान करता है तथा उनके शत्रुओं का नाश करता है (4/12/1-2)। अग्नि के उपासकों से प्रमादवश जो पाप हो जाते हैं, उन्हें अग्नि क्षमा कर देता है और उपासको के पितरों के पाप को भी क्षमा कर देता हैं(4/12/4....6)

ऋग्वेद में अग्नि के इतने महत्त्वपूर्ण होने का विशिष्ट कारण है। प्राचीन भारत में यज्ञ मनुष्य जीवन का एक प्रधान अंग था। या यों भी कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीयों की जीवन प्रद्धति ही यज्ञमय थी। यज्ञ करना सर्वश्रेष्ठ कर्म था। इस यज्ञ क्रिया को अग्नि के साहाय्य के बिना किया ही नहीं जा सकता था। यज्ञाग्नि में डाली जाने पर ही हवि विभिन्न देवताओं तक पहुँच पाती है इसीलिए अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया। अग्नि द्वारा रक्षित यज्ञ ही देवताओं तक पहुँचता है(1/1/4)। इस प्रकार, यज्ञीय हवि का वहन करना और यज्ञ में देवताओं का आह्वान करना वैदिक युग में अग्नि देवता के मुख्य कार्य थे।[1] अग्नि से धूम्र उत्पन्न होता है, धुँए से मेघ बनते है और मेघों से वृष्टि होती है।[2] अतः अग्नि इस समस्त जगत् का प्राण व जीवन है।

ऋग्वेद में अग्नि की अनेक नामों से स्तुति की गई है। यज्ञों में प्रशस्ति प्राप्त करने के कारण अग्नि को 'नाराशंस' कहा जाता है। यह 'सत्य'(यजमान को यज्ञफल अवश्य देने वाला), 'अजिर'(पुरातन), 'प्रचेता'(प्रकृष्ट ज्ञानसम्पन्न),'कविक्रतु'(सर्वक्रान्त प्रज्ञावाला), 'चित्रश्रवस्तम' (अतिशय रूप में अद्भुत कीर्तिसम्पन्न) तथा 'वैश्वानर'(सबका हितकर्ता) है। स्वरूप की दृष्टि से अग्नि को 'धूमकेतु'(धुँए रूपी चिह्न वाला),'यज्ञकेतु'(यज्ञ का सूचक) तथा अंगिर (अंगारों से युक्त) नाम दिए गए।

विष्णु—ऋग्वेद में विष्णु की स्तुति में केवल पाँच सूक्त ही प्राप्त होते हैं। कुछ अन्य सूक्तांशों में भी विष्णु की स्तुति है। इस दृष्टि से ऋग्वेदीय देवों में विष्णु का स्थान निम्न स्तर पर होना चाहिए। किन्तु तथ्य इसके विपरीत है। बहुत कम सूक्तों में स्तुत होने पर भी विष्णु ऋग्वेद में अत्यधिक महिमा मण्डित देव के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। विष्णु द्युलोकस्थानीय देवता हैं। विष्णु शब्द व्याप्त्यर्थक विष् धातु से निष्पन्न हुआ है और धातुगत व्याप्ति रूप यह अर्थ प्रत्येक विष्णु सूक्त

---

1. निरुक्त 7 / 3 / 1 — अथास्य कर्म — वहनञ्च हविषामावाहनञ्च देवानाम्।

2. शतपथ ब्राह्मण 5 / 3

में वर्तमान है। विष्णु के सर्वाधिक प्रसिद्ध वैदिक विशेषण 'उरुगाय'(विशालगति वाला अथवा अत्यधिक स्तूयमान)'त्रिविक्रम'(तीन विशाल पाद प्रक्षेप वाला), तथा 'उरुक्रम'(अत्यधिक संक्रमण वाला) आदि से भी इसी व्यापकता का बोध होता है। तीव्र गतिशील होने के कारण विष्णु 'तीव्रजवस्' तथा 'एवयावन' है। इसने अपने तीन विशाल पगों से त्रिलोकी को नाप लिया (1/154/3) और उसके इन तीन पगों में सभी लोकों का निवास है (1/154/2)। विष्णु के तीनों चरण प्रक्षेप परम आनन्दमय हैं(1/154/4) इनमें से तीसरा सर्वोच्च पद विष्णु का प्रिय धाम है(1/22/20 तद्विष्णोः परमं पदम्)। देवता यहीं आनन्द का अनुभव करते हैं—'यत्र देवासो मदन्ति।' विष्णु के इस परम पद तक न मनुष्यों की पहुँच है और न ही उड़ने वाले पक्षी उस स्थान तक पहुँच पाते हैं (1/145/5)।

विष्णु के ये तीन चरण प्रक्षेप क्या हैं—इस तथ्य पर सभी विद्वान् एकमत से इन्हे सूर्य के पथ का बोध कराने वाला मानते हैं। फिर भी पाश्चात्य एवं भारतीय—सभी विद्वानों के अनुसार इसमें सूक्ष्म भेद है। डा. ब्रजबिहारी चौबे ने सभी मतों का संकलन इस प्रकार किया है-"शाकपूणि के अनुसार विष्णु के तीन कदम सूर्य के तीन लोकों—पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश—में संक्रमण है। अग्नि के तीन रूप—द्युलोक में सूर्य के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत के रूप में तथा पृथिवी पर पार्थिव अग्नि के रूप में—ही विष्णु के तीन कदम है, ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों से मालूम होता है। और्णवाभ (यास्क के पूर्ववर्ती) के अनुसार सूर्य उदय होना, मध्याह्न में जाना तथा अस्त होना, ये ही विष्णु के तीन कदम हैं। विल्सन, मैक्समूलर, मैक्डॉनल तथा कीथ आदि इसी मत को प्रामाणिक मानते है। तिलक के अनुसार उत्तरी ध्रुव पर वर्ष के तीन विभाग (प्रत्येक चार महीने का) ही विष्णु के तीन कदम हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों के साथ मिलान करने पर इन मतों में कई कमियाँ दिखाई देती हैं। और्णवाभ के मत में कुछ सुधार करके यदि यह माना जाए कि सूर्य का उदय से लेकर मध्याह्न तक एक कदम, मध्याह्न से लकर अस्ताचल तक दूसरा कदम तथा अस्ताचल से लेकर पुनः उदय तक तीसरा कदम है, तो यह अधिक समी चीन होगा।[1]

विष्णु के 'त्रिविक्रम' पर्याय के अनेक अर्थ किए जाने पर भी उसका स्वरूप स्पष्ट ही है कि विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप का प्रतिनिधि है।[2] निरुक्तकार ने विष्णु का एक नाम 'शिपिविष्ट' भी कहा है।[3] 'शिपि' सूर्य की किरणों को भी कहते हैं,[4] उनसे आविष्ट सूर्य की संज्ञा 'शिपिविष्ट' हुई। इस प्रकार भी विष्णु सूर्य का ही नामान्तर है।

---

1. चौबे, ब्रजबिहारी — द न्यू वैदिक सेलेक्शन — परिशिष्ट 4 पृष्ठ 42
2. बृहद्देवता 2 / 69 — विष्णते र्विशतेर्वा स्याद् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः ।
   विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वं सर्वांन्तरश्च यः ॥
3. निरुक्त 5 / 2 / 2 —शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णुर्द्वे नामनी भवतः ।
4. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — पृष्ठ 1109

ऋग्वेद के सूक्तों में विष्णु तथा इन्द्र की मित्रता भी द्रष्टव्य है। एक सम्पूर्ण सूक्त (6/69) में विष्णु और इन्द्र दोनों देवताओं की संयुक्त रूप से स्तुति की गई है। वृत्रवध में विष्णु इन्द्र की सहायता करता है (6/20/2)। इन दोनो देवताओं ने मिल कर शम्बर के 99 दुर्गों को ध्वस्त किया, दास पर विजय प्राप्त की तथा बन्धन में पड़ी हुई गायों को मुक्त किया। ऋग्वेद के प्रमुखतम देवता इन्द्र का इस प्रकार साहाय्य करने के कारण ही वेदोत्तर काल में विष्णु इन्द्र के अनुज बन कर 'उपेन्द्र' कहलाए। रामायण-महाभारत तथा पुराणों में सहस्राधिक कथाएँ ऐसी हैं जिसमें पुनः पुनः विपत्ति में पड़े हुए इन्द्र की सहायता विष्णु करते हैं।

ऋग्वैदिक युग में सूक्त संख्या की दृष्टि से विष्णु का महत्त्व बहुत कम है किन्तु परवर्ती काल में विष्णु का महत्त्व शीघ्रता से बढ़ा और पुराणकाल तक आते आते विष्णु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता बन गए। विष्णु ही देवाधिदेव, परमेश्वर तथा पुरुषोत्तम कहलाए। ऋग्वेद में विष्णु के विशाल संक्रमण वाले जो तीन चरण प्रक्षेप थे, उस कथा का शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में यह स्वरूप बना कि विष्णु ने वामन रूप धारण करके तीन पगों में समस्त ब्रह्माण्ड को नापा और दानवों से पृथिवी को छीना। "संसार के पालनकर्ता विष्णु का यह रूप वेदोत्तर पुराणों में अवतारवाद का आधार बन कर विकसित हुआ। भगवान् विष्णु मानव कल्याण के लिए अनेक बार भूमि पर अवतार लेते हुए बताए गए हैं।"[1]

उषस्—ऋग्वेद में उषस् की स्तुति में 20 सूक्त प्राप्त होते हैं। यह द्युस्थानीय देवता है। उषस् को सम्बोधित किए गए सूक्तों में प्रकृति की सम्पूर्ण मनोरम सुषमा जीवन्त हो उठी है। वैदिक ऋषि की सर्वाधिक मनोहर कल्पनाएँ समस्त काव्यात्मक उन्मेष के साथ उषा के सूक्तों मे प्रस्फुटित हुई हैं। मानव जीवन में आशा, उत्साह, नवीन ऊर्जा एवं स्फूर्ति, चेतना तथा सुन्दर कर्म आदि जितने भी कल्याणकारी तथा शुभ तत्त्व हैं, उषा उन सभी की प्रतीक रूपिणी है।

उषा आकाश की पुत्री है 'दिवः दुहिता' (1/48/9;1/92/7;1/113/3) जो प्रकाशवस्त्रों से आवृत्त होकर पूर्व दिशा में उदित होती है (1/124/3)। उषा नर्तकी के समान अनेक रूपों को धारण करती हुई अभिगमन करती है (1/92/4)। पुरातन होते हुए भी उषा पुनःपुनः जन्म लेकर प्रतिदिन शुभरूपा एवं नई नई दिखाई देती है। (1/92/10); इसीलिए उषा को 'पुराणी युवती' (3/61/1) कहा गया है।

उषा की सूर्य से अत्यधिक घनिष्ठता है। उषा को सूर्य की पत्नी 'सूर्यस्य योषा', 'स्वसरस्य पत्नी' (3/61/4) कहा गया है। जिस प्रकार कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के पीछे पीछे जाता है उसी प्रकार सूर्य प्रकाशवती उषा का अनुगमन करता है।[2] किन्तु कहीं कहीं सूर्य से पूर्व आने के कारण उषा को सूर्य की माता और बहन भी कहा गया है। (7/78/3)। उषा का अग्नि के साथ भी सम्बन्ध है। एक स्थल पर अग्नि को उषा का जार कहा गया है– उषो न जारः (1/68/1)। वरणीय (अग्निहोत्रादि लक्षण) धन की याचना करते हुए अग्नि उषा के पास जाता है।[3] ऋषियों ने उषा को

---

1. मैक्डॉनल -- संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग — पृष्ट 68
2. ऋग्वेद 1 / 115 / 2 — सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
3. ऋग्वेद 3 / 61 / 6 — आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः।

मित्र और वरुण की माया (3/61/7) कहा है। अश्विन्, इन्द्र और सविता देवों (1/113/1) से भी उषा सम्बद्ध है। उषा तथा रात्रि बहने हैं जिनमे परस्पर संघर्ष भी नहीं है ओर दोनों एक दूसरे का अतिक्रमण भी नही करती हैं(1/113/3)।

विभिन्न सूक्तों में उषा को सम्बोधन करते हुए वैदिक ऋषि की मानस दृष्टि के सम्मुख सदैव ही प्रातःकाल का दृश्य रहा है। प्रातःकाल की प्रकाशशीलता तथा उत्फुल्लता से ऊर्जासम्पन्न होकर ऋषि ने उषा के स्तवन में जिन मन्त्रों का उच्चारण किया, वे हृदय के अन्तरतम को झंकृत कर देते हैं। उषस् सूक्तों की रमणीय किन्तु सरल काव्यात्मकता यज्ञीय रूपकों अथवा यज्ञ सम्बन्धी सन्दर्भो से बोझिल नहीं बनी है। उषा की शाश्वतता तथा निरन्तरता ने ऋषि को मानव जीवन की क्षणभंगुरता के प्रति पुनः पुनः सचेत किया है (1/92/10;1/113/11)। आकाश में अपनी कान्ति से चमकती देवी उषा तिमिर के अवगुण्ठन को दूर करके अपने अरुण अश्वों से जगत् को प्रबेधित करती हुई सुसज्जित रथ पर समारुढ़ होकर शुभागमन करती है।[1] सुन्दर युवती की भाँति सबको आनन्दित करती हुई उषा आती है और समस्त प्राणिवर्ग को जगा कर स्वस्व कार्यों में प्रवृत्त करती है (1/48/5,6)। उषा अपने कार्य में कभी प्रमाद नहीं करती, निर्धारित नियम का सदा पालन करती है। सभी भागों से सुपरिचित होने के कारण उषा कभी अपना मार्ग नही भूलती तथा समान मार्ग पर ही सदा गमन करती है—'समानमर्थं चरणीयमाना'(3/61/3)। उषा के कर्म से अनुप्राणित वैदिक ऋषि मानव को जागृत होने और निरन्तर कर्मशील बनने के लिए उद्बोधित करता है(1/113/16)

उषा से निरन्तर धन, अन्न तथा समृद्धि की प्रार्थना की गई है।[2] यही कारण है कि 'मघोनी' (दानशीला) 'रेवती'(प्रचुर धन प्रदान करने वाली) तथा 'वाजिनी'(अन्नवती) उषा के विशेषण रूप में बहुशः प्रयुक्त हुए हैं। उषा 'सूनरी'(रुपवती) तो है ही, साथ ही वह 'प्रचेता' (प्रकृष्ट ज्ञानसम्पन्न), 'विश्ववारा'(सभी के द्वारा वरणीय) तथा 'ऋतावरी' (सत्य सम्पन्न, नियमपालनतत्पर) भी कही गई है। इस प्रकार आधिभौतिक पक्ष में उषा आकाश में कान्तिमान् प्रातःकालीन लालिमा है; आधिदैविक पक्ष में उषा देवी है तथा श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य के भौतिक चैतन्य के प्रति दिव्य दीप्तियों के अभिनव द्वार का प्रतीक है।

वरुण—ऋग्वेद में वरुण देवता की स्तुति में केवल 12 सूक्त ही प्राप्त होते है। लगभग 24 अन्य सूक्तों में इन्द्र, सविता, मित्र, अग्नि आदि अन्य देवताओं के साथ वरुण की स्तुति की गई है। पाश्चात्य विद्वानों ने वरुण को द्युस्थानीय देवता परिगणित किया है किन्तु निघण्टु के पंचम अध्याय में वरुण की गणना द्युस्थानीय तथा अन्तरिक्षस्थानीय दोनों प्रकार के देवताओं में की गई है, तथा वरुण के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।

---

1. ऋग्वेद 1 / 113 / 14
2. ऋग्वेद 1 / 48 / 1, 2, 3, 8, 10, 12, 13, 14, 15
3. ऋग्वेद 1 / 48 / 16 — सं नो राया बृहसा विश्वपेशसा मिमिक्ष्वा समिलाभिरा।
सं द्युम्नेन विश्वतुरोषो महि सं वाजैर्वाजिनीवति॥

यास्क ने वरुण की व्युत्पत्ति वृ-वरणे से की है क्योंकि वरुण सज्जनों का वरण करता है 'वरुणो वृणोतीति सतः' (निरुक्त 12/3)। शौनक ने बृहद्देवता में यास्क के इस निर्वचन का विस्तार किया है—'अपने मूर्त रस (जल) द्वारा यह तीनों लोकों को आवृत करता है, इसलिए कृपा की आकांक्षा रखने वाले (ऋषिगण) इस की वरुण नाम से स्तुति करते है।'[1] सायण ने वरुण शब्द का निर्वचन वृ-आवरणे से किया अर्थात् पापियों को बन्धन से आवृत करने वाला। कहीं कहीं सायण ने वरुण शब्द की व्याख्या करते हुए उसे 'संसार को अन्धकार से आवृत करने वाला' भी कहा है।

अन्य देवताओं की तुलना में सूक्त संख्या की दृष्टि से ऋग्वेद में भले ही वरुण की स्तुति कम प्राप्त होती हो, किन्तु वरुण सम्बन्धी ये सूक्त वैदिक साहित्य के सर्वाधिक उदात्त सूक्तों में परिगणित हैं। समस्त देवताओं में वरुण ही नैतिक प्रशासक के रूप में दृष्टिगोचर होता है। वह धर्मपति है। संसार में ऋत् (नियम चक्र) का पालनकर्ता भी वरुण ही है। वरुण के सूक्तों में व्रत या ऋत् का बार बार उल्लेख हुआ है- धृतव्रतः (1/25/8)। देवता भी वरुण के व्रत का पालन किया करते है।[2] वरुण सत्यासत्य तथा नियमानियम का साक्षी, प्रेरक तथा संचालक है। यही मनुष्य के पाप पुण्यों का द्रष्टा तथा गुण एवं दोष का अन्वीक्षक तथा परीक्षक है। वरुण अपने स्वर्णनिर्मित, सहस्रोंद्वार वाले, द्युलोक स्थित प्रासाद (9/88/5) में बैठ कर किए गए तथा किए जाने वाले अद्भुत कर्मों को देखता है(1/25/11)।

विश्व में ऋत् का नियन्ता यह वरुण देव ऋत् के उल्लंघन को क्षमा नहीं करता। प्रकाशशील वरुण को घेर कर बैठने वाले वरुण के गुप्तचर (1/25/13) संसार में निरन्तर भ्रमणशील रहते हैं। मनुष्य के नियमोल्लंघन अथवा पापकर्म से वरुण क्रुद्ध हो जाता है (7/86/3)। वरुण के सहस्रों धर्म पाश हैं जिनसे वह पापियों को बाँध लिया करता है। वरुण के धर्मपाशों से विश्व में कोई नहीं बच पाता। वरुण के प्रति कहे गए विभिन्न सूक्तों में स्थल स्थल पर इन पाशों से मुक्ति की प्रार्थना की गई है। 'हे वरुण; सबसे ऊपर वाले, सबसे नीचे वाले तथा बीच वाले पाश को हमसे ढीला करो। जिससे हे अदिति पुत्र, तुम्हारे पवित्र नियम (व्रत) के अन्दर हमलोग अदिति के सम्मुख पापरहित हों।'[3] ऋषि पुनः पुनः अपने पाप को नष्ट करने की,[4] अपने नियमोल्लंघन को क्षमा करने की तथा दया करने की वरुण से प्रार्थना करता है।[5] 'हे वरुण। मर्त्य होने के कारण हमसे जो भी अपराध

---

1. बृहद्देवता 2 / 33 —त्रीणीमान्यावृणोत्येको मूर्तेन तु रसेन यत्।
   तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः कृपण्यवः॥

2. ऋग्वेद 8 / 21 / 7 — वरुणस्य पुरो गेय विश्वे देवा अनुव्रतम्।

3. ऋग्वेद 1 / 24 / 15 — उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
   अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

4. ऋग्वेद 1 / 24 / 9, 14; 1 / 25 / 1,2.

5. ऋग्वेद 1 / 25 / 19; 7 / 86 / 2, 5, 7; 7 / 89 / 4, 9;

देवताओं के प्रति हुए हों, तथा अविवेक के कारण हमने जो भी नियमोल्लंघन किया हो, हमें क्षमा करो। हे ईश्वर, हमें सारे पापों से मुक्त करो।'[1] वरुण के प्रति कही गई स्तुतियों में सर्वत्र ही दीनता तथा विनयशीलता की ऐसी भावना स्पष्टतया दीख पड़ती है जो अन्य देवों के प्रति कहे गए सूक्तों में दृष्टिगोचर नहीं होती। इस विनय अथवा भक्ति से प्रसन्न होकर वरुण मनुष्यों के पापों को क्षमा कर देता है और उन्हें पाशमुक्त करता है। वह पितरों द्वारा किए गए पापों से भी मनुष्यों को मुक्त कर देता है(7/86/5)।

ऋग्वेद में वरुण को विराट् भगवान् के रूप में चित्रित किया गया है। यह वरुण सर्वज्ञ है तथा विश्व की विभिन्न वस्तुओं का निर्माता है। वरुण द्युलोक एवं पृथिवी लोक पर शासन करता है (1/25/20)। यह वरुण देव ही है जो सूर्य के चलने के मार्ग, अन्तरिक्ष में पैर रखने के मार्ग (1/24/8), पक्षियों का मार्ग, समुद्रीय नावों का मार्ग (1/25/7), वायु मार्ग तथा उससे ऊपर रहने वालों को भी जानता है (1/25/8)। वरुण ने ही विस्तृत आकाश और पृथिवी को धारण किया है और सूर्य तथा नक्षत्रों को दो प्रकार से प्रेरित किया है।[2] विशाल शक्ति वाले वरुण के विभिन्न नाम उसकी सामर्थ्य एवं शक्ति का भलीभाँति परिज्ञान कराते हैं। वरुण 'पूतदक्ष' (पवित्र सामर्थ्यवान्), 'धृतव्रत', 'सुक्रतु' (शोभनकर्म सम्पन्न), 'चिकित्वान्' (प्रज्ञावान्) 'उरुत्चक्षस्' (विशालदृष्टि) तथा 'सहस्रचक्षः' है।

नैतिक नियमों का कठोरता एवं पवित्रता से पालन कराने वाले परम शक्तिशाली वरुण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद है। "सायण ने एक जगह अपना यह मत व्यक्त किया है कि अस्त होता हुआ सूर्य ही वरुण है जो अपने गमन से रात्रि या अन्धकार को उत्पन्न करता है। अन्य स्थलों पर सायण ने वरुण को जल का ही अभिमानी देवता माना है। मैक्समूलर के अनुसार वरुण तारों से जड़ित आकाश का मानवीकृत रूप है। मित्र (सूर्य) के साथ द्वन्द्व के कारण ओल्डेनवर्ग वरुण को चन्द्रमा का प्रतिनिधि मानता है। बरगैने वरुण को वृत्र के रूप में देखता है। जोन्सन वरुण को दिव्य अंशों से युक्त शरद् का प्रतिनिधि समझता है। शरद् का दानवीय रुप वृत्र है।"[3] मैक्डॉनल तथा कीथ ने वरुण को व्यापक आकाश का वाचक माना है। डा. ब्रजबिहारी चौबे के अनुसार "सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता तथा एकतन्त्र नियन्तृत्व सर्वव्यापक आकाश के लिए सुसंगत है। सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाला आकाश सबके कार्यों का साक्षी है।"[4]

---

1. ऋग्वेद 7 / 89 / 5 — यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
   याचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥
2. ऋग्वेद 7 / 86 / 1 — धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
   प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥
3. चौबे, ब्रजबिहारी — द न्यू वैदिक सेलेक्शन — परिशिष्ट 4 — पृष्ठ 40
4. चौबे, ब्रजबिहारी — द न्यू वैदिक सेलेक्शन — परिशिष्ट 4 — पृष्ठ 40 – 41

वेद के इस ऋत्नियामक तथा सामर्थ्यशाली देवता का महत्व वेदोत्तर काल में बहुत कम होता गया और पौराणिक युग तक आते आते वरुण केवल जल का देवता रह गया।

सविता—ऋग्वेद में विष्णु, सविता, सूर्य, पूषन् तथा मित्र—ये पाँच देवता ऐसे हैं जिनकी स्तुतियों के आधार पर विद्वानों ने इन पाँचो को सौर देवता माना है अर्थात् ये पाँचों देवता सूर्य की विभिन्न चेष्टाओं के स्वरूप हैं। इनमें से विष्णु देवता के स्वरूप का पहिले ही वर्णन किया जा चुका है, तथा उनके विभिन्न विशेषण भी त्रिवेचित हैं।

ऋग्वेद में सविता देव की स्तुति में 11 सूक्त कहे गए हैं तथा कुछ अन्य सूक्तों में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं के साथ सविता की स्तुति प्राप्त होती है। यह द्युस्थानीय देवता है। सविता शब्द सू प्रेरणे धातु से निष्पन्न होता है और सविता के सभी सूक्तों में प्रेरणा की यह भावना सर्वत्र पाई जाती है। यास्क ने निरुक्त (10/31) में 'सविता सर्वस्य प्रसविता' कह कर इसी प्रेरणा रूप अर्थ को बल दिया है। सविता के कार्यों का जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे वह प्रकृति की उत्पादक, प्रेरक तथा नियामक शक्ति का रूप जान पड़ता है।

वैदिक ऋषि ने सविता देव को एक ऐसा मेधावी कवि कहा है जिसने यन्त्रों के द्वारा पृथिवी का स्तम्भन किया और द्युलोक को स्थापित किया।[1] सविता उदित होते हुए सूर्य की प्रेरक शक्ति का प्रतिरूप है जो सबको विभिन्न कार्यों में विनिवेशित कर देता है (1/35/1) सविता एक ऐसे स्वर्णिम (स्वर्ण की भाँति प्रकाशमान्) देव है जिसके नेत्र, हाथ, जिह्वा, केश, उंगलियाँ, रथ की धुरी अथवा जुआ आदि सभी स्वर्णविनिर्मित हैं (1/35;6/71/3)। रात्रि के विश्राम के पश्चात् मनुष्यों को सविता हाथ फैला कर उठाता है और आशीर्वाद देता है(2/38/2)। सबके कल्याण की कामना से सविता रोगों को दूर करता है (1/35/9) तथा दीर्घायु प्रदान करता है (4/54/2)। पूषा एवं सूर्य की ही भाँति सविता भी इस स्थावर जङ्गम संसार का अधिपति है (4/53/6)। जलचर, पशु अथवा पक्षियों में से कोई भी सविता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते (2/38/7)। यहाँ तक कि इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवता भी सविता का आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।[2] सविता ही दिन और रात के रूप में समय को विभक्त करता है(2/38/4)। सविता देव की स्तुति में ही ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध मन्त्र है जो परम पवित्र गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र के रूप में प्रत्येक धर्मनिष्ठ हिन्दू को निरन्तर अनुप्राणित करता रहता है।[3]

सविता देव का स्वरूप क्या है अथवा सविता प्रकृति के किस तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है, इस सम्बन्ध में भी अनेक विचार पाए जाते हैं। ऋग्वेद में सविता एवं सूर्य भिन्न भिन्न देव हैं तथा

---

1. ऋग्वेद 10 / 149 / 1 — सविता मन्त्रै: पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंतत्।
   अश्वमिवाद्युक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्ध सविता समुद्रम्॥
2. ऋग्वेद 2 / 38 / 9 — न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
   नारातयस्तनिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः॥
3. ऋग्वेद 3 / 62 / 10 — तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
   धियो यो नः प्रचोदयात्॥

सविता सूर्य के भिन्न भिन्न रूपों में से ही एक है—इतना तो सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं। यद्यपि कहीं कहीं सविता का वर्णन इस रूप में है कि उसे सूर्य से पृथक् मान पाना कठिन हो जाता है।[1] सायणाचार्य ने सविता सूक्त (1/35;2/38) के मन्त्रों की व्याख्या में सर्वत्र सविता का अर्थ सूर्य ही ग्रहण किया है। फिर भी सविता एवं सूर्य भिन्न हैं क्योकि सविता को सूर्य का प्रेरक भी कहा जाता है।[2] यास्क के अनुसार उदय होने से पूर्व सूर्य को सविता कहते हैं और उदय से अन्त होने तक के समय में सूर्य कहते हैं।[3] किन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों के अनुशीलन के आधार पर यास्क का यह मत समीचीन नहीं ठहरता। उदय होने से पूर्व आकाश में प्रकट होने को तत्पर सूर्य सविता है यह अनेक मन्त्रों में स्पष्ट हुआ है (1/35/1;2/38/1;7/66/4 आदि)। किन्तु साथ ही रात्रि लाने वाले तथा प्रति रात्रि स्तूयमान देवता के रूप में भी सविता की अनेकविध स्तुति है (1/35/10;2/38/3,4,6,8 आदि)। 'ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के समय आकाश में फैली हुई लालिमा ही सविता है। सम्भवतः वैदिक ऋषियों की दृष्टि में भौतिक सूर्य के स्थूल रूप का प्रतिनिधित्व तो सूर्य देवता करता है जब कि सविता सूर्य की प्रेरक शक्ति का प्रतिरूप है जो (शक्ति) मनुष्यों को कार्य करने और साथ ही विश्राम करने की भी प्रेरणा देती है। सूर्य की अपेक्षाकृत सविता अधिक अमूर्त देव है।'

सूर्य—ऋग्वेद में सूर्य देवता की स्तुति में 10 सूक्त उपलब्ध होते हैं। यह भी वैदिक पाँच सौर देवताओं में से एक है। सूर्य द्युस्थानीय देवता है। सृ गतौ तथा सु प्रेरणे-इन दोनों धातुओं से सूर्य शब्द निष्पन्न माना गया है। सूर्य यह नाम ही प्रकाश तथा तेज का बोधक बन गया है। सूर्य के समस्त सूक्तों में प्रकाश से इसका शाश्वत सम्बन्ध है।

सूर्य का पिता द्यौः (10/37/10) तथा माता अदिति (1/50/13) है। सूर्य से पूर्व आने के कारण उषा को भी एकाधिक स्थल पर सूर्य की माता कहा गया है। (7/78/3)। किन्तु अधिकांश स्थलों पर उषा का वर्णन सूर्य की पत्नी रूप में ही है (3/61/4)। सूर्य प्रकाशवती उषा का वैसे ही अनुगमन करता है जैस कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका का (1/115/2)। पुरुष सूक्त में सूर्य की उत्पत्ति पुरुष के नेत्र से कही गई है—'चक्षोः सूर्यो अजायत'—(10/90/13)। इसके अतिरिक्त इन्द्र[4], इन्द्र विष्णु (7/99/4), इन्द्र वरुण (7/82/3) तथा मित्र वरुण (4/13/1) को भी सूर्य को उत्पन्न करने वाला वर्णित किया गया है। सूर्य मित्र, वरुण तथा अग्नि का नेत्र भी है।[5] ऐसा नेत्र रूप सूर्य

---

1. ऋग्वेद 1 / 124 / 1; 7 / 6 / 3; 10 / 158 / 1 – – 4;
2. ऋग्वेद 1 / 35 / 9 — हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
   अपामीवां बाधते वेति सूर्यभमि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥
3. निरुक्त 12 / 12
4. ऋग्वेद 2 / 12 / 7 — य सूर्यं य उषसं जजान....
5. ऋग्वेद 1 / 115 / 1 — चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने....

स्वयं भी गूढ़ द्रष्टा है (1/50/2), जो सभी प्राणियों के सुकृत एवं दुष्कृत को देखता रहता है(6/51/2) ।

सूर्य किरणों का एक आश्चर्यजनक समूह है,जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो उठता है । आकाश,पृथिवी तथा अन्तरिक्ष सभी को सूर्य प्रकाश से भर देता है(1/115/1) । यह सूर्य देवताओं का भी रक्षक है,क्योंकि सूर्य ही अपनी आकर्षण शक्ति के द्वारा आकाश के अन्य नक्षत्रों को उनके स्थान पर बनाए रखता है ।[1] सूर्य के स्वर्णिम रथ को एक,अथवा असंख्य अथवा सात घोड़े खींचते हैं ।[2] सूर्य की सात किरणें ही उसके सात अश्व कहे जाते हैं । इन अश्वों को 'हरितः' कहा गया । सायण ने 'हरितः'का अर्थ 'रसहरणशीलाः'किया है । सूर्य की किरणें विश्व के जल का हरण करके उसे वाष्प रूप में परिणत कर देती है । सूर्य के ये हरित अश्व अन्तरहित क्रम में प्रकाश तथा अन्धकार को जगत् में लाते रहते है ।[3]

जैसा वैदिक देवों की सामान्य विशेषताओं के समय भी लिखा जा चुका है,वैदिक ऋषि ने सूर्य में सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की भी भावना की है । समस्त स्थावर जङ्गम का आत्मास्वरूप यह सूर्य प्रजापति है,संवत्सर है तथा प्रत्यक्ष सिद्ध परमात्मा है । 'जो कुछ था,वर्तमान है अथवा भविष्य में होगा और जो कुछ स्थावर जङ्गम है,उन सभी के कारण,प्रभव तथा प्रलय का स्थान सूर्य ही है । सत् और असत् की योनि यही प्रजापति है । यही अक्षर और वाच्य है,यही शाश्वत ब्रह्म है । यह सूर्य अपने को तीन भागों में विभक्त करके इन तीन लोकों में प्रतिष्ठित है एवं अन्य अन्य देवों को भी अपनी रश्मियों में निविष्ट करता है । यह सूर्य अग्नि रूप से तीनों लोकों में स्थित है । अतः ऋषिगण विभिन्न स्तोत्रों से इसकी स्तुति करते है ।'[4]

पूषा—पूषा भी पाँच सौर देवताओं में परिगणित है । ऋग्वेद के 8 सूक्तों में पूषा की स्तुति उपलब्ध होती है । यह द्युस्थानीय देवता है । पुष् पोषणे धातु से पूषा शब्द का निर्वचन होता है । पूषा को सूर्य की पोषण शक्ति का रूप माना गया है । यास्क ने स्पष्ट कहा है कि जो रश्मियों से पुष्ट करता है वह पूषा है ।[5]

पूषन् के लिए प्रायः आधृणि (तेजस्वी,प्राप्त दीप्ति) विशेषण का प्रयोग किया गया है (6/53/8,9 आदि) । पूषा सर्वद्रष्टा,सर्वज्ञ तथा सबका शासक है । इसी ने समस्त भुवनों को उत्पन्न किया—'विश्वान्यन्यो भुवना जजान ।'पूषा मुख्यतया मार्गों का अध्यक्ष है अतः इसको 'पथस्पति'नाम से सम्बोधित किया गया है ।[6] अध्यक्ष होने के कारण यह सभी मार्गों को जानता है ।

---

1. ऋग्वेद 9 / 83 / 4 —पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः.....
2. ऋग्वेद 7 / 63 / 2; 1 / 115 / 3; 7 / 63 / 15
3. ऋग्वेद 1 / 115 / 5 . . . . . अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ।
4. बृहद्देवता 1 / 61 64
5. निरुक्त 12 / 2 / 10 — अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति ।
6. ऋग्वेद 6 / 53 / 1 — वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये ।
धिये पूषन्नयुज्महि ॥

पूषा नष्ट द्रव्यों की प्राप्ति का उपाय तथा खोए हुए एवं छिपे हुए धन के स्थान को भी भली प्रकार जानता है (6/54/1)।

मार्गों का ज्ञाता होने के अतिरिक्त पूषा का अन्य महत्त्व पशुओं की रक्षा के कारण है। पूषा देवता पशुओं के पीछे पीछे जाकर उनको गड्ढे अथवा कुँए में गिरने से बचाता है (6/50/7;6/54/7)। वह मार्ग के दस्युओं तथा वृक आदि हिंसक पशुओं से गायों, अश्वों आदि की रक्षा करता है (6/54/5;6/55/5)। जो पशु मार्ग भूल गए अथवा खो गए है उन्हें भी पूषा सुरक्षित घर ले आता है (6/52/10;6/53/9)।[1]

पूषा की इन समग्र विशेषताओं को मैक्डॉनल ने इस प्रकार समाहित किया है—"पूषा का नाम अभ्युदयकारक इस अर्थ का वाचक है। उसके स्वरूप में अन्तर्निहित सूर्य की उस उपकारक शक्ति की ओर संकेत है जो मुख्यतः पशुपालन सम्बन्धी देवता के रूप में अभिव्यक्त होती है।"[2] वेदों से परवर्ती काल में शनैः शनैः पूषा का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया और यह सूर्य का पर्यायवाची शब्द बन कर रह गया।

मित्र—पाँच सौर देवों में मित्र की भी गणना होती है। ऋग्वेद में केवल एक सूक्त (3/59) ही स्वतन्त्र रूप से मित्र देवता की स्तुति में कहा गया है किन्तु वरुण देवता के साथ मित्र का अनेकविध वर्णन अवश्य मिलता है। मिद् धातु से सखा अर्थ में मित्र शब्द निष्पन्न होता है। तदनुरूप ही सर्वमित्र तथा परम दयालु देवता के रूप में मित्र की स्तुति प्राप्त होती है। यह सूर्य की मंगलमय शक्ति का रूप है। व्यक्तिगत दृष्टि से मित्र के स्वरूप में कोई विलक्षणता दृष्टिगोचर नहीं होती। वरुण की ही विभिन्न शक्तियों के समान मित्र की भी महिमा का वर्णन है। यह पृथिवी एवं द्युलोक को धारण करता हुआ अपलक नेत्रों से कर्मनिरत मनुष्यों को देखता है (3/59/1)। मित्र के व्रत में दीक्षित, प्रयत्नशील मनुष्य को पाप स्पर्श नहीं करता; न वह पराजित होता है और न ही मारा जाता है (3/59/2)। मित्र ही समस्त देवताओं को धारण करता है—स देवान्विश्वान्बिभर्ति (3/59/8)। आदि। एक ही सूक्त में वर्णित होने पर भी मित्र देवता अत्यन्त उदात्त है।

इस संक्षिप्त स्वरूप से स्पष्ट होता है कि "वेद में ही मित्र ने अपना अस्तित्व खो दिया था और वह वरुण की कल्पना में अन्तर्भावित सा हो चुका था।"

अश्विनौ—ऋग्वेद के 50 सूक्तों में अश्विनों की स्तुति की गई है तथा अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी इनका आवाहन हुआ है। इस दृष्टि से ऋग्वेद में अश्विनों का स्थान इन्द्र, अग्नि और सोम के उपरान्त आता है। ये द्युस्थानीय देवता हैं।

अश्विनी देवों का सर्वाधिक वैशिष्ट्य उनका युग्म रूप हैं। ये दो देव सदा तरुण हैं तथा सदा साथ रहते हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के सम्पूर्ण उन्तालीसवें सूक्त में अश्विनी द्वय की

---

1. ऋग्वेद 6/54/2— समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति।
इम एवेति च ब्रवत्॥

2. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) — प्रथम भाग -- पृष्ठ 67

तुलना विश्व में युगल रूप में प्राप्त वस्तुओं—हाथ, पैर, नेत्र, हंस युगल आदि—से की गई है। ये दोनो द्यौः के पुत्र है—दिवो न पाताः (10/182/1)। उषा अश्विनों की बहन है (1/180/2) तथा पूषा इनका पुत्र है (10/85/14)। अन्य स्थलों पर समुद्र को अथवा त्वष्टा की पुत्री सरण्यू को अश्विनों की माता कहा गया है।

अश्विनौ ऋग्वेद का एक ऐसा देवयुगल है जिसके कार्यों का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। ये दोनों देवता मनुष्यों के ऐसे मित्र हैं जो विपत्ति अथवा संकट में पड़े व्यक्तियों की पुनः पुनः सहायता करते हैं। प्रथम मण्डल के एक सौ सोलहवें सूक्त में इस प्रकार के अनेक आख्यान हैं जिनमें अश्विनों ने स्तुति से प्रसन्न होकर सुरक्षा एवं सहायता प्रदान की। विमद नाम राजर्षि की स्वयंवर लब्ध पत्नी को शत्रु राजाओं से बचा कर अश्विनों ने तीव्रगामी रथ पर बैठा कर विमद के घर पहुँचाया (1/116/1)। अश्विनों के प्रिय तुग्र नामक राजर्षि ने दूसरे द्वीप में रहने वाले शत्रुओं को जीतने के लिए अपने पुत्र भुज्यु को सेना सहित नाव द्वारा भेजा। समुद्र के मध्य में नाव टूट गई। उस आलम्बन रहित समुद्र में भुज्यु की स्तुतियों से प्रसन्न अश्विनों ने उड़ने वाले रथों के द्वारा अथवा शतारित्रा (सौ डाँड़ वाली) नाव के द्वारा भुज्यु का समुद्र से उद्धार किया (1/116/3–5)। असुरों के द्वारा पीड़ायन्त्रगृह में तुषाग्नि में डाले गए अत्रि ऋषि का (1/116/8) तथा पाशबद्ध करके कूप में डाले गए रेभ ऋषि का (1/116/24) अश्विनों ने ही उद्धार किया। शत्रुओं से घिरे हुए जाहुष को बचा कर अश्विनों ने आकाश मार्ग से निकाल दिया(1/116/20)।

अश्विन युगल का रथ स्वर्णिम एवं शीघ्रगामी है जिसका निर्माण ऋभुभ्राताओं के द्वारा किया गया था (1/118/2)। इस वेगवान रथ पर आरूढ़ होकर ये दोनों देवता भू लोक, द्युलोक, सूर्यलोक तथा चन्द्रलोक की भी अत्यन्त शीघ्रता से यात्रा कर लेते हैं (3/58/8)। अश्विनों के रथ ने विभिन्न रथ दौड़ों में विजय प्राप्त की (1/116/2,17)। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में भी अश्विनों के भास्वर रथ का वर्णन है जिस पर बिठा कर वे लोग वधू को पतिगृह में प्रतिष्ठित करते है(10/85/26)।

पौराणिक युग में अश्विन द्वय स्पष्टतया देवताओं के चिकित्सक कहे गए है। ऋग्वेद मे इन दोनो देवताओं के इस गुण का भी अनेक रूप में कथन किया गया है। अश्विनों ने वृद्ध, जीर्णाङ्ग तथा पलितकेशवाले च्यवन ऋषि की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उसे पुनः यौवन प्रदान किया(1/116/10)। च्यवन ऋषि के इस आख्यान का परवर्ती काल में बहुत विकास हुआ। नपुंसक पति वाली (वध्रिमती) स्त्री को पुत्र प्रदान किया (1/116/13) तथा वन्ध्या गाय को पुनः दूध देने वाली बना दिया (1/116/22)। युद्ध में कटी टाँग वाली विश्पला नामक स्त्री के लोहे का पैर लगा दिया(1/116/15)। शल्य चिकित्सा का सम्भवतः यह प्राचीनतम उदाहरण है। पिता के शाप से अन्ध हुए ऋजाश्व की स्तुतियों से प्रसन्न होकर अश्विनों ने उसे फिर से दृष्टि प्रदान कर दी थी (1/116/16)। अश्विनों की इन्ही विशिष्टताओं के कारण उन्हे 'दस्र' (1/116/10), गुह्य शक्ति सम्पन्न (6/63/5); 'शुचिव्रत'(1/182/1) तथा पुरुभुज़ (1/116/11,12) आदि भी कहा गया है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध उपाधि 'नासत्य' है। नासत्य शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए निरुक्त कार ने लिखा है—'नासत्य अश्विन् हैं। सत्य ही नासत्य (न असत्य) है, यह और्णवाभ का मत है।

सत्य के प्रणेता नासत्य हैं यह आग्रायण का मत है। अथवा नासिका से उत्पन्न होने के कारण वे नासत्य कहलाते हैं ऐसा ऐतिहासिकों का कथन है।'[1] अश्विन् युगल के विभिन्न आश्चर्यजनक सत्य कार्यो को देखकर—'नासत्य' का अर्थ 'जो असत्य नही है'—यही समीचीन प्रतीत होता है।

अश्विनी कुमारों के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में भी अनेक मतमतान्तर हैं। यास्क ने प्राचीन समय में प्रचलित अनेक मतों का एकत्र उल्लेख किया है—'ये अश्विन कौन है ? एक मत में द्यावापृथिवी अश्विन हैं, एक मत के अनुसार दिवस रात्रि अश्विन हैं, अन्य मत में सूर्य चन्द्रमा अश्विन् है,ऐतिहासिको के मत में पुण्य कार्य वाले दो राजा अश्विन् हैं।[2] इस प्रकार यास्क के समय में भी अश्विनों का स्वरूप नितान्त अस्पष्ट था। ज्योतिष ग्रन्थों में 'अश्विनी' नक्षत्र नाम है। कुछ विद्वानों के मत में अश्विन् युगल प्रातः काल उषा से तनिक पूर्व के उस समय का प्रतिनिधित्व करते हैं जब थोड़ा प्रकाश एवं थोड़ा अन्धकार होता है। ऋग्वेद (10/61/4) में लाल गायों (किरणों) के मध्य अन्धकार विद्यमान् रहते समय अश्विनों के प्रगट होने का कथन है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने प्रातः काल एवं सांयकाल की अरुणिमा में पृथक् पृथक् उदित होने वाले दो तारों को अश्विन् द्वय माना है—किन्तु यह मत सदोष है क्योकि ऋग्वेद में सर्वत्र ही अश्विनों को साथ साथ रहने वाला वर्णित किया गया है। इसकी अपेक्षा उषा से पूर्व कुछ अन्धकार और कुछ प्रकाश वाली प्रदोष की सन्धिवेला को अश्विन् युगल मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

मरुत्—यह एक देवता न होकर देवसमूह है। ऋग्वेद के 33 सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से मरुद्गण की स्तुति की गई है। अन्य सूक्तों में इन्द्र,अग्नि तथा पूषन् के साथ मरुतों का स्तवन किया गया है। यह अन्तरिक्षस्थानीय देवता है। प्रकाशित होना या कुचलना अर्थ में मर् धातु से मरुत् शब्द निष्पन्न होता है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने मृ मरणे धातु से मरुत् शब्द की निष्पत्ति मान कर इस देवसमूह को प्रेतात्माओं का प्रतिरूप कहा है किन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों के आलोक में यह अर्थ संगत नहीं बैठता। 'म्रियते जनाः यस्याभावात्' इस रूप में मृधातु से मरुत् शब्द की निष्पत्ति एवं अर्थ अवश्य उचित कहा जा सकता है। यास्क ने 'मरुत्' के अनेक अर्थ प्रस्तुत किए हैं—जो संयत होकर गर्जना करते हैं अथवा परिमित प्रकाश करते है अथवा बहुत अधिक द्रवित होते (बरसते) हैं—वे मरुत् हैं।[3]

मरुत्गण संख्या में 21 अथवा 60 के तीन गुणा अर्थात् 180 हैं (8/96/8)। परवर्ती युग में मरुत् की संख्या 49 नियत हो गई। ये मरुद्गण रुद्र के पुत्र हैं—रुद्रियातः (1/38/7)। तथा पृश्नि इनकी माता है—पृश्निमातरः (1/38/4)। पृश्नि के अर्थ भूमि, चितकबरी गौ, द्यौः, आदित्य, मेघ आदि किए गए हैं। मरुद् गण इन्द्र के पुत्र अथवा भाई भी कहे जाते है। ये इन्द्र के परम सहायक

---

1. निरुक्त 6 / 3 / 4 — नासत्यौ च अश्विनौ। सत्यौ एवं नासत्यौ इति और्णवाभः। सत्यस्य प्रणेतारौ इति आग्रायणः। नासिकाप्रभवौ बभूवतुः इति वा।

2. निरुक्त 12 / 1 / 1 — तत्कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्यचमसावित्येके, राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।

3. निरुक्त 11 / 2 / 1 — मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवति इति वा।

हैं। वृत्र का बध करके जलों को प्रवाहित करने के कार्य में इन्द्र के सर्वाधिक सहायक मरुद्गण ही हुए थे। (1/85/9)। रोदसी (पृथिवी-आकाश) इन मरुद्गणों की पत्नी है जो मरुतों के रथ पर खड़ी रहती है (6/66/9)(अर्थात पृथिवी तथा आकाश दोनो में मरुद्गण रहते हैं)। सभी मरुद्गण परस्पर भाई हैं कि और समान आयु के हैं।

मरुद्गण को नित्य युवा एवं जरावस्था रहित कहा गया है—युवानो रुद्राः अजराः (1/64/3)। इनका शरीर अत्यधिक कान्तिमान् है तथा ये परम तेजस्वी हैं।[1] जिस रथ पर मरुद्गण आरूढ़ होते हैं वह विद्युत के सदृश स्वर्णवर्णी है तथा विविध आयुधों से भरा है।[2] मरुद्गण उसी प्रकार महान तथा व्यापक हैं जैसे आकाश अपनी महिमा से सर्वत्र व्याप्त होता है।

मरुद्गण का मुख्य कार्य वर्षा करना जान पड़ता है[3] जिसके साथ प्रकाश, वायु एवं झञ्झावात का योग होता है। मरुस्थल में भी मरुद्गण वर्षा कर देते है (1/38/7) कहीं कहीं मरुद्गण दूध, मधु अथवा घी भी वर्षा करते है।[4] जब मरुत् पवन वेग के साथ आते है तो वन भी भयभीत होकर झुक जाते हैं, पृथिवी काँप जाती है और पर्वत भी डोल जाते हैं (5/57/3;5/60/2,8/7/4 आदि)। मरुतों की गर्जना से सम्पूर्ण गृह तथा मनुष्य भी अत्यधिक कम्पित हो जाते हैं (1/38/10)। मरुतों से सम्पूर्ण भुवन भयभीत रहते हैं—भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः (1/85/8)। रम्भाती हुई गाय की तरह शब्द करती हुई विद्युत् मरुतों की सेवा करती है।[5]

वैदिक ऋषि ने इस मरुद्गण को स्तुति से प्रसन्न करते हुए रोगनिवारण, विपत्ति से रक्षा आदि की अनेकशः प्रार्थना की है और ओषधि, वैभव तथा सन्तान प्राप्ति की याचना भी की है (5/53/14;5/57/7;5/59/5 आदि)। मरुतों के लिए 'वाधप्रिय'(स्तुति से प्रसन्न), 'पनस्यु' (स्तुतियोग्य), 'अर्किण'(पूजायोग्य)तथा 'त्वेष'(भयानक, तेजस्वी) आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

मरुतों का वास्तविक रूप क्या है ? इस सम्बन्ध में भी पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। भारतीय परम्परा इन्हे वायु का प्रतिनिधि मानती है तो पाश्चात्य विद्वान् मरुतों को झंझावात का देवता मानते हैं। मरुद्गण को युद्ध का देवता भी कहा जाता है। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल ने मरुत् को प्राण माना है। वेदोत्तर काल में मरुत् शब्द वायु का पर्यायवाची बन गया।

रुद्र—ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति में तीन सूक्त प्राप्त होते है। एक अन्य सूक्त (1/43) के

---

1. ऋग्वेद 3 / 26 / 4; 5 / 57 / 2 ; 6 / 66 / 2;
2. ऋग्वेद 3 / 54 / 13 — विद्युद्रथाः मरुतः ।
   5 / 57 / 6 — आयुधाः रथेषवः ।
3. ऋग्वेद 1 / 38 / 9; 5 / 58 / 3.
   2 / 34 / 2 द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः ।
   रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्नयाः शुक्र ऊधनि ॥
4. ऋग्वेद 1 / 168 / 8 अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यद्दी घृतं मरुतः प्रष्णुवन्ति ।
5. ऋग्वेद 1 / 38 / 8 वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति ।
   यदेषां वृष्टिरसर्जि ॥

प्रारम्भिक छह मन्त्र रुद्र की स्तुति में हैं तथा शेष तीन मन्त्रों में सोम की स्तुति है। एक अन्य सूक्त (6/74) के मन्त्रो में रुद्र तथा सोम दोनो का स्तवन है। इसके अतिरिक्त अग्नि, मरुत्, इन्द्र, अश्विनौ, सविता आदि देवों के साथ भी रुद्र की स्तुति की गई है। रुद्र अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं।

यास्क ने रुद्र शब्द को रुद्‌धातु से निष्पन्न किया है जिसका अर्थ है, रोना, रुलाना, चिल्लाना।[1] रोने या रुलाने के अर्थ में परवर्ती साहित्य मे 'रुद्र' शब्द के अनेक निर्वचन प्रस्तुत हुए है।[2] रु धातु (तोड़ना, मारना, क्रुद्ध होना) तथा द्रुधातु (दौड़ना, द्रवित होना या करना आदि) से भी रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति कही गई है।[3] रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति किसी भी धातु से की जाए—ऋग्वैदिक रुद्र देव में उन सभी धातुओं की सम्मिलित विशेषताएँ दृष्टि गोचर होती है। रुद्रदेव मरुत्‌गणों के पिता हैं (1/64/2;1/114/6;2/34/2)। यह ऋग्वेद का एक ऐसा भयावह देव है जिससे ऋषि पुनः पुनः भयनिवारण एवं रक्षा हेतु स्तुति करता है। रुद्र तीक्ष्ण बाण एवं आयुध धारण करता है जिससे वह मनुष्यों एवं पशुओं का संहार कर डालता है(6/74/4; 7/46/3)। यह बभ्रुवर्णी (2/33/9,151) भी है और कदाचित् श्वेतवर्णी भी (2/33/8)। रुद्र विख्यात रथ पर आरूढ़ होता है (2/33/11) और अन्तरिक्ष से पृथिवी पर विद्युत छोड़ता है (7/46/2)। क्रुद्ध होकर रुद्र मनुष्यों का संहार करता है (नृघ्न), तथा गायों को मारता है (गोहन्) (1/114/10)। इसीलिए रुद्र से प्रार्थना की गई है कि हम आपके हिंसक स्वभाव से बचें (1/114/7)।

रुद्र के पास अनेक ओषधियाँ हैं (6/74/3) जिनसे वह मनुष्य के विभिन्न रोगों को नष्ट कर देता है (1/114/1,6; 2/33/6, 7/46/2 आदि)। 'हे रुद्र। हम आपके द्वारा दी हुई कल्याणकारी औषधि से शतवर्ष तक जीवित रहें तथा आप ही हमारे शरीरस्थ रोग को भी दूर कर दें।'[4] रोग निवारण की इसी शक्ति तथा दिव्य औषधियों के ज्ञान के कारण रुद्र को 'भिषगों का भिषग्' सम्बोधित किया गया है।(2/33/4)।

ऋग्वेद में रुद्र का एक और अन्यतम विशेषण है 'पशुप' अर्थात् पशुओं का रक्षक (1/114/9)। यजमान की स्तुति से प्रसन्न होकर रुद्र अपने संहारकारी क्रोध को रोक लेता था और पशुओं की हिंसा नहीं करता था। इस रूप में पशु क्षति से बच जाते थे। परवर्ती युग में जब रुद्र से

---

1. निरुक्त 10/ 1/ 5— रुद्रो रौतीति सतः रोरुयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा।

2. शतपथ ब्राह्मण 6 / 1 / 3 / 10 ; 9 / 1 / 1 / 6 — यदरोदीत् तस्मात् रुद्राः।
वाजसनेयी संहिता — 16 / 1 — महीधर भाष्य — रोदयति इति रुद्रः।
बृहदारण्यक उपनिषद् 3 / 9 / 4 — यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः।
सायण – ऋग्वेद भाष्य — रोदयति सर्वमन्तकाले रुद्रः।

3. तैत्तिरीय आरण्यक — भट्ट भास्कर मिश्र कृत भाष्य — रुतौ नादान्ते द्रवति द्रावयति वा।
महाभारत–हरिवंश अध्याय — 2 / 74 / 22 — रुद्रो देवस्त्वं रुदनाद्द्रावणाच्च।
रोरूयमाणो द्रावणाच्चाति देवः।
ते रुदन्तो द्रवन्तश्च भगवन्तं पितामहम्।
रोदनाद् द्रावणाच्चैव ततो रुद्रा इति स्मृता॥

4. ऋग्वेद 2/ 33/ 2, 13

शिव तक का विकास सम्पूर्ण हो गया, तो भी उनकी 'पशुपति' उपाधि बनी ही रही।

ऋग्वेद में रुद्र का जो स्वरूप वर्णित है उस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने जो भिन्न भिन्न कथन किए हैं उनमें मूलतः बहुत कम ही अन्तर है। प्रसिद्ध जर्मन् विद्वान वेबर रुद्र को 'झंझावात के रव का प्रतीक' कहते है।[1] डा. कीथ एवं डॉ. आर. जी. भण्डारकर ने रुद्र को 'प्रकृति की विनाशक शक्ति का प्रतीक' माना है।[2] डॉ. यदुवंशी के अनुसार 'रुद्र घने बादलों में चमकती हुए विद्युत व घनघोर गर्जन तथा वर्षा का देवता' है।[3] डॉ. रामकुमार राय रुद्र को 'झंझावात व मेघों का पीछा करने वाला देव' मानते हैं।[4] ये सारे ही मत प्रकृति के संहारक एवं विध्वंसक पक्ष को ही उद्घाटित करते हैं।

सोम—ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवम मण्डल में सोम की स्तुति प्राप्त होती है। यही कारण है कि नवम मण्डल को सोम पवमान मण्डल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि देवों के साथ भी सोम का वर्णन आया है। ऋग्वेद की विधियों में सोमयाग एक मुख्य अनुष्ठान है अतएव सोम का गान ईश्वर की महिमा के सदृश किया गया है। लता के रूप में यह पृथिवी स्थानीय है, किन्तु देवरूप में इसे द्युस्थानीय कहा जा सकता है। अन्य देवताओं की भाँति सोम का मानवीकरण तो नही हुआ है किन्तु सोम के प्रति की गई प्रार्थनाएँ अधिकांशतः अन्य देवों के समान हैं।

सु धातु से सोम शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है पीस कर निकाला हुआ रस। सोमलता को मूंजवान पर्वत पर उत्पन्न वर्णित किया गया है (10/34/1)। अन्यत्र ऐसा भी वर्णन है कि इस दिव्य पौधे को स्वर्ग से श्येन पक्षी पृथिवी पर लाया था—श्येनो यदन्धो अभरत् परावतः (9/83/2)। सोमरस निकालने के लिए इस लता को पत्थरों से दबाया अथवा पीसा जाता था।[5] सोम को परिष्कृत करने के लिए दसों अंगुलियों की आवश्यकता पड़ने के कारण दस युवतियों से सोम परिष्कार अथवा दुहने का भी वर्णन मिलता है।[6] सोम को पत्थरों से पीस कर, पानी मिला कर छलनी से पात्र (द्रोण) में छाना जाता था। छलनी से निकलकर पात्रों में गिरते हुए सोम को वन की ओर उड़ते हुए पक्षी (9/72/5) अथवा नदी की तीव्रगामी धारा (9/80/5) कहा गया है। सोम्रस में जल अवश्य सम्मिश्रित किया जाता था किन्तु दूध, दही, जौ और कदाचित् घी भी सोम रस में अलग अलग मिलाया जाता था। यह सोमरस आनन्ददायक, स्फूर्तिप्रदायक, उत्तेजक तथा अमृतवत्

---

1. वेबर — इण्डीश टू डीन — पृष्ठ 19 – 22
2. कीथ — रिलीजन एण्ड माइथोलॉजी ऑफ ऋग्वेद — पृष्ठ 147
   भण्डारकर, आरजी. —
3. यदुवंशी — शैव मत — पृष्ठ 2 / 3.
4. राय, रामकुमार — मूल संस्कृत उद्धरण पृष्ठ 367
5. ऋग्वेद 9 / 80 / 4 नृभिः सोम प्रच्युतो ग्रावभिः सुतो......
   9 / 109 / 10 — आ सोम सुवानो अद्रिभिः......
6. ऋग्वेद 9 / 8 / 4 — मृजन्ति त्वा दश क्षिपः।
   9 / 80 / 4 — सहस्रधारं दुहते दश क्षिपः

माना जाता था। सभी देवता एवं मनुष्य सोमरस पान के लिए उन्मुख होते हैं [1] किन्तु इन्द्र को यह सर्वाधिक प्रिय था (9/85/3)। सोमरस शक्तिकारक तो है ही (9/80/2)। देवता अमृतत्व प्राप्ति के लिए इसका पान करते है; "(अब हम) अमर हो गए है, प्रकाश तक पहुँच चुके हैं। (हमने) देवताओं को प्राप्त कर लिया है। अब शत्रु हमारा क्या करेंगे ? हे अमर (सोम) मनुष्य का हिंसक भी (हमारा) क्या करेगा ?"[2]

सोम से पुनः पुनः धन याचना भी की गई है (8/48/13;9/18/4)। यह पृथिवी, भोजन तथा पशु प्रदान करता है (9/45/3)। सोम का एक अन्य विशिष्ट गुण रोग से मुक्ति तथा आयुवृद्धि है (8/48/5,7,11)। सोम अन्धे को दृष्टि तथा पंगु को गति प्रदान करता है (8/79/2)। सम्भवतः सोमरस की भैषज्य शक्ति को ध्यान में रखकर ही ऋग्वेद में इसकी इतनी स्तुति की गई। 'सुमेधा','स्वाध्य'(सुन्दर चिन्तन या कर्मवाला), 'वरिवोवित्तर'(अतिशय पूज्य),'उरुष्यवः'(रक्षा की कामना करने वाले), 'ऋदूदरः (उदार हृदय वाला)' आदि अनेक सुशोभन विशेषण सोम के लिए प्रयुक्त किए गए है।

ऋग्वैदिक धर्म

उन्नीसवीं शती में जब विदेशों में संस्कृत का अध्ययन प्रचलित हुआ, तो उस समय पाश्चात्य विद्वानों ने वेदमन्त्रों के सतही अर्थ मात्र को समझ कर भारत के तत्कालीन धर्म के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक कल्पनाएँ प्रस्तुत की। उनके अनुसार ऋग्वेद के मन्त्र प्रकृति पूजा के मन्त्र हैं और प्रकृति पूजा को धर्म का अत्यन्त प्रारम्भिक और जंगली रूप माना जाता है। आर्य वनों में रहते थे और सूर्य, वर्षा, अग्नि, विद्युत्, प्रचण्ड वायु आदि प्रकृति के विभिन्न रूपों और शक्तियों से भयाक्रान्त हो कर उनकी स्तुति किया करते थे, जिससे वे इन प्राकृतिक आपदाओं से बच सकें। किन्तु शीघ्र ही वेदों के गहन अध्ययन के फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वानों ने स्वयं ही अपनी पूर्व धारणाओं को असंगत ठहरा दिया। उन्होने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया कि ऋग्वेद के समय में वैदिक धर्म अपनी प्रारम्भिक अवस्था में नहीं था अपितु पूर्ण रूपेण विकसित हो गया था।

ऋग्वेद के सूक्तों के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्यो का धर्म सरल होते हुए भी सर्वोत्कर्षवादी था। भारतीय ऋषि प्रकृति के सौम्य-उदात्त एवं भयावह-रूक्ष-दोनों रूपों से प्रभावित हुआ था। प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति के प्रतीक अथवा परिचायक रूपों में विभिन्न देवताओं की स्तुति होती रही, किन्तु साथ ही ऋग्वैदिक ऋषि ने उन सभी शक्तियों में निरन्तर अनुस्यूत उस एक परम शक्ति को भी भली भाँति समझ लिया था। यही कारण था कि वैदिक काल का धार्मिक जीवन उदात्त नैतिकता के सरल धरातल पर दृढ़ता से स्थित हुआ।

आर्यो का धर्म बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद का एक अपूर्व एवं अद्भुत सामञ्जस्य-पूर्ण रूप है। देव शब्द दिव् द्योतने धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है प्रकाशशील अथवा

---

1. ऋग्वेद 8 / 48 / 1 — विश्वे यं देवा उस मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति।

2. ऋग्वेद 8 / 48 / 3 — अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥

द्योतनशील। एक ही परम ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित अथवा उद्‌भासित विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ ऋग्वेद में उपलब्ध होती हैं। इन स्तुतियों का एक वैशिष्ट्य यह है कि ऋषि जब किसी भी देवता की स्तुति करता है तो उसी को सर्वशक्तिमान् मान लेता है। विभिन्न देवताओं में पारस्परिक महत्त्व का कोई ऊँचा-नीचा क्रम नहीं है। स्तुतियों के इस वैशिष्ट्य का कारण बहुत सरल है। वैदिक ऋषि ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को भली प्रकार हृदयंगम कर लिया था, इसलिए उस ईश्वर का प्रतिनिधि प्रत्येक देव स्वतः ही सर्वोत्कृष्ट हो गया। इन्द्र, अग्नि, विष्णु, वरुण, सविता, रुद्र आदि विभिन्न सभी देवताओं[1] की स्तुतियों में लगभग एक सी महानता का गान मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि एक परम शक्ति को पहचान कर ऋषियों ने उसे भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित किया है। इसीलिए स्वयं ऋग्वेद (1/164/46) में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' कह कर मन्तव्य स्पष्ट कर दिया गया है।

ऋग्वेद में उपलब्ध सभी देवों के यास्ककृत स्थान गत विभाजन का संकेत देवों के स्वरूप से पूर्व किया जा चुका है। देवताओं के स्वरूप के वर्णन में यह भी स्पष्ट हो गया है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः—इन तीन स्थानों पर देवों का यह विभाजन उनके प्राकृतिक स्वरूप की दृष्टि से समीचीन ही दिखाई देता है। देवों का जन्म तो वर्णित किया गया है किन्तु मृत्यु नहीं। अग्नि या सविता के वरदान से अथवा यज्ञों में सोमपान करने से देवता अमर हैं। वैदिक ऋषि ने लगभग सभी देवताओं को मनुष्याकृति रूप में वर्णन किया है। उन देवों की विभिन्न शक्तियाँ या स्वरूप ही शरीर के विभिन्न अंगो के रूप में कहे गए हैं यथा सूर्य के हाथ उसकी किरणें हैं, अग्नि की जिह्वा उसकी ज्वालाएँ हैं। मनुष्य अपना जो कुछ भी भोजन यज्ञ की हवि रूप में अर्पित करते हैं, वही (दूध, अन्न, मांस, सोम आदि) देवताओं का भोजन है। देवगण या तो यज्ञस्थल पर बिछी कुशा पर आकर यह भोजन ग्रहण कर लेते हैं और या अग्निदेव वह भोजन उन देवों तक पहुँचा देते हैं। सोमरस देवों का प्रिय पेय है। रुद्र के क्रोधी स्वरूप को छोड़कर अन्य सभी देव स्वभाव से अत्यन्त उदार, सहृदय एवं दयालु हैं। बल, पराक्रम, ज्ञान, समृद्धिशालित्व, सत्य आदि सभी देवों के गुणों के रूप में वर्णित हैं।

विभिन्न देवताओं के स्वरूप तथा वैदिक धर्म के इस संक्षिप्त विवेचन से तत्कालीन धर्म की अनेक विशेषताएँ उभर कर सम्मुख आती हैं—

1. वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा नहीं थी। लगभग सभी देवों को मनुष्याकृति रूप में वर्णित अवश्य किया गया है किन्तु किसी भी देवता की मूर्ति बना कर उसकी पूजा अर्चा की जाती हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। उस युग में न मन्दिर थे और न ही प्रतिमाएँ थीं।

2. वैदिक धर्म में पुरुष तत्त्व को प्रधानता मिली थी। पृथिवी, अदिति, उषा आदि कतिपय देवियों का वर्णन तो है किन्तु अपेक्षाकृत बहुत कम सूक्तों तथा मन्त्रों में उनका स्तवन किया गया है। इस प्रकार वैदिक धर्म में नारी तत्त्व का स्थान अत्यन्त न्यून है।

3. वैदिक धर्म यज्ञ प्रधान धर्म था। धर्म में यज्ञोपासना की परम्परा थी। देवताओं की स्तुति में मन्त्रों का उच्चारण करते हुए यज्ञ में विभिन्न हवि डाली जाती थी। घृत, दूध, अन्न, मांस, मधु, सोम आदि को हवि रूप में समर्पित करके देवों को सन्तुष्ट किया जाता था। तत्कालीन यज्ञ तथा

---

1. ऋग्वेद 1 / 35 / 5; 1 / 154 / 4;

उनके सारे विधि विधान अत्यन्त सरल थे। वैदिक युग में यज्ञ क्रिया के साथ किसी जटिल या रहस्यपूर्ण अनुष्ठान का उल्लेख या संकेत नहीं है।

4. वैदिक धर्म में पुरोहित का कोई स्थान नहीं था। प्रत्येक गृहपति स्वयं ही पुरोहित होता था जो अपने घर में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक देवताओं को हवि समर्पित करता रहता था। पुरोहित की परम्परा ऋग्वैदिक काल के पश्चात् प्रारम्भ हुई।

5. ऋग्वेदकालीन धर्म में परलोकगत जीवन, पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का दृढ़ सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है, मृत्यु के उपरान्त भी कोई जीवन या स्थिति है अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में वैदिक विचार अत्यन्त अस्पष्ट हैं। उत्तम आचरण एवं स्वभाव वाला व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त उस अमृतस्थान में जा कर रहता है जहाँ दुग्ध तथा मधु का लोक है। किन्तु पापाचरण करने वाले दुष्टस्वभाव व्यक्ति का मृत्यु के उपरान्त क्या परिणाम होता है यह ऋग्वेद वर्णित नहीं करता।

6. वैदिक धर्म का सर्वाधिक वैशिष्ट्य है उसका ओजस्वी तथा आशावादी होना। वैदिक जन के लिए यह विश्व दुखदायी अथवा अमंगलकारी नहीं अपितु सुखमय तथा आशापूर्ण था। ऋग्वैदिक ऋषियों की यह धारणा थी कि यह संसार उदार देवताओं के संरक्षण में सत्त्वगुणसम्पन्न तथा आनन्दमय जीवन व्यतीत करने के लिए है। ऋग्वेद के किसी भी मन्त्र में इस संसार के प्रति निराशा का कोई भाव नहीं मिलता। इसीलिए वैदिक ऋषि अपने देवता से प्रजा, पशु, अन्न, तेज, समृद्धि आदि इस लोक से सम्बद्ध वस्तुओं और गुणों की ही निरन्तर याचना करता था।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक युग में धर्म का स्वरूप शिष्ट, सुसंस्कृत एवं नितान्त सरल था।

ऋग्वेद का महत्त्व—ऋग्वेद के रचनाक्रम एवं विषयवस्तु के इस विवेचन से उसका महत्त्व स्पष्टतः उद्भासित हो जाता है। विभिन्न दृष्टियों से यह वेद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यज्ञों का महत्त्व, देवस्तुति, मोक्षविषयक धारणा, पुनर्जन्म, आदि अनेक धार्मिक विषयों का विवेचन इसमें उपलब्ध होता है। सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था, समाज एवं व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध, विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्य, विवाह विधि, भोजन, परिधान, अलंकार आदि से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री ऋग्वेद में वर्तमान है। प्राचीनकाल का जीवनदर्शन, शिष्टाचार, सदाचरण, श्रेय तथा प्रेय आदि अमूल्य सांस्कृतिक निधि ऋग्वेद में छिपी हुई है। राज्यशासन, संघशासन, सभा, समिति, राज्यतन्त्र एवं प्रजातन्त्र, राजा के अधिकार और कर्तव्य, राजा का निर्वाचन, प्रजा के अधिकार एवं कर्त्तव्य आदि राजनीतिक विषयों का भी इसमें समावेश है। दार्शनिक दृष्टि से ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों का अत्यल्प कथन किया ही जा चुका है जिनमें सृष्टि उत्पत्ति, ब्रह्मा, जीव, माया का आवरण, बहुदेवतावाद एवं एकेश्वरवाद, पुर्नजन्म आदि का अत्यन्त गम्भीर विवेचन किया गया है। आर्थिक दृष्टि से भी ऋग्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कृषि, कृषि के उपकरण, अन्न, व्यापार-वाणिज्य, आजीविका के साधन, पशुपालन, अन्य उद्योग-धन्धे आदि का पर्याप्त वर्णन है। साहित्य की दृष्टि से भी विद्वानों ने ऋग्वेद को बहुत प्रमुखता दी है क्योंकि नाटक, कथासाहित्य, महाकाव्य एवं खण्डकाव्य के उद्गम एवं विकास का इतिहास ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता है। इन दृष्टियों से विश्व सभ्यता का अद्यावधि उपलब्ध यह आदिग्रन्थ विश्वकोशात्मक ही है।

■

3

अन्य संहिताएँ

यजुर्वेद संहिता

यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है जो यज्ञ में अध्वर्यु के लिए नितान्त उपयोगी थे। यजुर्वेद का लगभग चतुर्थांश ऋग्वेद पर आधृत है अथवा ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है तथा शेष अंश मौलिक है। ऋग्वेद से भिन्न अंश अधिकांशतः गद्यात्मक है। ऋग्वेद के सूक्त सम्पूर्णतः तो बहुत कम ही यजुर्वेद में उद्धृत हैं। वस्तुतः ऐसा जान पड़ता है कि ऋग्वेद की जो ऋचाएँ किसी यज्ञीय अनुष्ठान के उपयुक्त प्रतीत हुई,उन्हे ऋग्वेद में संकलित कर लिया गया। इन ऋचाओं का यजुर्वेद में उपलब्ध प्रसंग ऋग्वेद से भिन्न है। इसी लिए ऋचा के यज्ञ में उपयोगी अंश मात्र को ग्रहण करके उन पर गद्यात्मक अंश लिखा गया। यही गद्य भाग यजुष् है जिसके आधार पर इस वेद का नामकरण हुआ। 'यजुष्'शब्द की अनेक व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं—

1. इज्यतेऽनेनेति यजुः[1] – अर्थात् जिन मन्त्रों से यज्ञ यागादि सम्पन्न किए जाएँ।
2. यजुर्यजतेः—यज्ञसम्बन्धी मन्त्रों को यजुष् कहते हैं।
3. गद्यात्मको यजुः—यजुष् गद्यात्मक होते हैं।
4. अनियताक्षरावसानो यजुः—यजुष् वह है जिसमें अक्षरों की संख्या नियत नहीं है।
5. शेषे यजुः शब्दः—ऋक् तथा साम से भिन्न मन्त्रों का नाम यजुः है।

उपर्युक्त समस्त व्याख्याओं से यजुर्वेद का एक ही लक्षण मुख्यतया प्रतिपादित होता है कि यज्ञक्रियाओं का सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिए गद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह ही यजुर्वेद है। यह संहिता यज्ञ के 'अध्वर्यु' नामक पुरोहित के लिए है। अध्वर्यु से सम्पूर्ण यज्ञ की व्यवस्था एवं संचालन का सामर्थ्य अपेक्षित था और यह सामर्थ्य यजुर्वेद में निहित है। किस यज्ञ में कौन से मन्त्रों का उच्चारण किस समय किया जाना चाहिए,यह सारी विधियाँ यजुर्वेद में उपलब्ध होती हैं। अध्वर्यु

---

1. निरुक्त 9 / 12.

को इन समस्त विधियों का सम्पूर्ण ज्ञान होना अनिवार्य था। इसस यह भी स्पष्ट होता है कि ये विभिन्न वेद एक दूसरे के पूरक थे। देवस्तवन के रूप में एक वेद में सैद्धान्तिक ज्ञान था तो यागानुष्ठान के रूप में दूसरे वेद में क्रियात्मक ज्ञान संचित हुआ। ऋग्वेद ज्ञानपरक है और यजुर्वेद क्रियापरक है, तथा वैदिक यज्ञ की समस्त विधि का निष्पादन करता है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में यजुर्वेद की 101 शाखाओं का कथन किया है।[1] किन्तु मूलतः यजुर्वेद के दो भिन्न सम्प्रदाय बने थे जिनसे परवर्ती युग में अनेक शाखाएँ प्रत्रर्तित हुई। मुख्य दो सम्प्रदाय-ब्रह्म सम्प्रदाय एवं आदित्य सम्प्रदाय हैं जो लोक में मुख्यतया कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद नाम से प्रख्यात हैं—

शुक्लं कृष्णमिति यजुश्च समुदाहृतम्।
शुक्लं वाजसनं ज्ञेयं कृष्णं तु तैत्तिरीयकम्॥

इन दोनों सम्प्रदायों की संहिताओं में विषयानुक्रम तथा विषय सम्पादंन एवं विवेचन की दृष्टि से ही अन्तर है। दोनों सम्प्रदायों को यह कृष्ण अथवा शुक्ल नाम क्यों प्राप्त हुए—इस सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर उपलब्ध होते हैं। वेद अपौरुषेय माने जाने के कारण प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों अथवा विचारकों ने इस विवेचन को करना सम्भवतः उचित नहीं समझा। किन्तु आधुनिक युग में इस पर पर्याप्त विचार हुआ है। यजुर्वेद के कृष्णत्व अथवा शुक्लत्व पर किए गया विवेचन संक्षिप्ततया इस प्रकार है—

1. पाश्चात्य विद्वानों ने कृष्ण-शुक्ल रूप इस भेद को अत्यन्त सामान्य रूप से निरूपित किया है। मैक्डॉनल के कथन में सभी पाश्चात्य विद्वानों के विचार समाहित से हो जाते हैं। तदनुसार "वाजसनेयी संहिता में केवल वे ही मन्त्र एवं प्रयोग संकलित हैं जिनका यज्ञों में विनयोग विहित है, इसी कारण इसे शुक्ल अर्थात् विशुद्ध पाठ कहते हैं। ब्राह्मण भाग में प्रयोग विधि का विवरण पृथक् रूप से दिया है। इसी विषय विभाग के कारण वाजसनेयी संहिता विशुद्ध अर्थात् असंकीर्ण अत एव 'शुक्ल' कही जाती है। दूसरी संहिता में दोनों प्रकार की बाते एकत्र संकलित हैं—इसी संकीर्ण रूप के कारण वह संहिता 'कृष्ण' कही गई है।"[2]

2. डॉ. कुँवर लाल जैन ने इस विषय में एक भारतीय मत उद्धृत करके उसका खण्डन करते हुए अपना मत स्थापित किया है। तदनुसार "इनके इस नामकरण का कारण एक विद्वान् ने इस प्रकार बतलाया है—

बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद्यजुः कृष्णमीर्यते।
व्यवस्थितप्रकरणाद्यजुः शुक्लमीर्यते॥ (प्रतिज्ञासूत्र भाष्य)

---

1. महाभाष्य — पस्पशाह्निक — .... एकशतमध्वर्युशाखाः ।......
2. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग — पृष्ठ 164

'बुद्धि की मलिनता के कारण एक यजुः को कृष्ण कहते हैं और प्रकरणों के व्यवस्थित रूप से होने के कारण दूसरे को शुक्ल यजुः कहा जाता है।' कृष्ण यजुर्वेद में प्रकरण अव्यवस्थित अवश्य हैं किन्तु उक्त नामकरण का हेतु समीचीन प्रतीत नहीं होता। हमारे मत में आदित्य के नाम से यजुः 'आदित्यानि यजूंषि' वाजसनेय के नाम से 'वाजसनेयानि यजूंषि' कहलाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण-द्वैपायन के नाम से 'कृष्ण यजुः' कहलाए। शुक्ल सूर्य या विवस्वान् का नाम था। अतः आदित्य यजुः शुक्ल कहलाए। सभी मन्त्रों और संहिताओं के नाम ऋषि और प्रवक्ता के नाम से ही प्रसिद्ध होते हैं अतः शुक्ल तथा कृष्ण संज्ञा भी प्रवक्ता आचार्य के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई।———कृष्ण यजुर्वेद का यथार्थ व्यवस्थापन, जो वर्तमान संहिताओं में मिलता है, वह इन्ही कृष्ण द्वैपायन व्यास का है। इसीलिए यह कृष्ण यजुर्वेद कहलाया।"[1]

3. डा. मंगलदेव शास्त्री ने आर्य एवं आर्येतर विचार धारा के प्रभाव के रूप में शुक्ल और कृष्ण नामों की संगति बिठाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार कृष्ण यजुर्वेद का विस्तार एवं पठन पाठन दक्षिण भारत में अधिक रहा अतः उस पर वैदिकेतर विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा। शुक्ल यजुर्वेद का प्रसार उत्तर भारत में होने के कारण उस पर वैदिकेतर प्रभाव नहीं पड़ा, वह विशुद्ध वैदिक विचारधारा का पोषक बना रहा। इस प्रभाव के कारण ही सम्भवतः कृष्ण और शुक्ल नामों का प्रचलन हुआ।

ब्रह्म सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि ग्रन्थ कृष्ण यजुर्वेद है। इस में मन्त्रों के साथ साथ उनके व्याख्यात्मक तथा विनियोगात्मक ब्राह्मणों का भी सम्मिश्रण है। चरण व्यूह के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की 86 शाखाएँ थी किन्तु सम्प्रति इसकी चार ही शाखाएँ तथा उससे सम्बद्ध विविध ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

1. तैत्तिरीय संहिता—यह कृष्ण यजुर्वेद की प्रधान शाखा है। काण्व संहिता के भाष्य की भूमिका में आचार्य सायण ने इस संहिता के (तैत्तिरीय) नामकरण के विषय में एक आख्यान प्रस्तुत किया है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु वैशम्पायन से यजुर्वेद ग्रहण किया। किसी समय शिष्य से क्रुद्ध होकर वैशम्पायन ने अध्यापित ज्ञान वापस लौटाने का आदेश दिया। क्रुद्ध गुरु के शाप से भयभीत होकर यज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषों का वमन कर दिया। गुरु वैशम्पायन की आज्ञा से उनके अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर लिया और तुरन्त ही उन वान्त यजुषों का भक्षण कर लिया। इसी कारण इस संहिता का नाम तैत्तिरीय संहिता पड़ा।

तैत्तिरीय संहिता का परिमाण पर्याप्त वृहत् है। इसमें 6 काण्ड हैं, इन काण्डों में 44 प्रपाठक एवं 631 अनुवाक् हैं। इनमें पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, होत्र, राजसूय आदि विविध यज्ञानुष्ठानों का विशद् वर्णन है। इस संहिता का विशेष प्रचार महाराष्ट्र, आन्ध्र, एवं दक्षिण भारत में है। वैदिक

---

1. जैन, कुंवरलाल — वैदिक साहित्य का इतिहास पृष्ठ — 98.....99.

वाङ्मय में तैत्तिरीय संहिता का अपना निजी वैशिष्ट्य है क्योंकि यह एक सर्वांगपूर्ण शाखा है । इस संहिता के ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत-गृह्य-धर्म-शुल्वादि सूत्र-सभी गन्थ अक्षुण्णतया उपलब्ध होते हैं । आचार्य सायण की अपनी यही शाखा थी ।

2.मैत्रायणी संहिता—यह मैत्रायणीय शाखा की संहिता है तथा गद्य पद्यात्मक है । इसमें 4 काण्ड,54 प्रपाठक तथा 2144 मन्त्र हैं जिनमें से 1701 मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं । ये ग्रहण किए गए मन्त्र मुख्यतः ऋग्वेद के प्रथम, षष्ठ तथा दशम मण्डल से हैं । इसको कालाप अथवा कालापक संहिता भी कहा जाता है । किसी समय भारत में इस संहिता का पर्याप्त प्रचार था ।

3.कठ संहिता—यह काठक संहिता भी कहलाती है । ऐसा प्रतीत होता है कि काठक जन मध्यदेश के निवासी थे क्योंकि पुराणों में काठक जन माध्यम या मध्यप्रदेशीय नाम से प्रख्यात है । इस संहिता मे 5 खण्ड,40 स्थानक,843 अनुवाक् एवं 3091 मन्त्र हैं । मन्त्र तथा ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या अठारह हजार है । वर्तमान युग में इस संहिता का अध्ययन करने वालों की संख्या कम है । किन्तु पतंजलि के एक कथन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में इस संहिता का प्रचार एवं पठन पाठन ग्राम ग्राम में हुआ करता था ।[1] आत्मतत्त्व विवेचन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध कठोपनिषद् इसी संहिता से सम्बद्ध है ।

4.कपिष्ठल-कठ संहिता—इस संहिता का यह नामकरण कैसे हुआ—इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है । पाणिनि के 'कपिष्ठलो गोत्रे'(8/3/91) सूत्र से स्पष्ट होता है कि कपिष्ठल एक ऋषि का नाम है । किन्तु कुछ विद्वान् इसे किसी स्थान विशेष का नाम मानते हैं । यह संहिता अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है । डॉ. रघुवीर ने 1932 में इसे मेहरचन्द्र संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत लाहौर से प्रकाशित कराया था । इसके 6 अष्टकों मे 48 अध्याय हैं जिनमें 9 से 24,32,33 तथा 43 अध्याय सर्वथा खण्डित हैं, तथा अन्य अध्याय भी बीच बीच में त्रुटित हैं । इस संहिता की विषयशैली कठसंहिता के सदृश ही है,किन्तु स्वरांकन की पद्धति कठसंहिता के समान न होकर ऋग्वेद के समान है । इस संहिता में भी विविध श्रौतयज्ञों का वर्णन है ।

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि कृष्ण यजुर्वेद की चारों मन्त्र संहिताओं में स्वरूप की भी पर्याप्त एकता है और उनमें वर्णन किए गए यागानुष्ठानों तथा यज्ञादि के निष्पादक मन्त्रों में भी बहुत अधिक साम्य है । डॉ. कीथ ने तैत्तिरीय संहिता का जो आंग्ल अनुवाद किया था,उसकी भूमिका में कृष्ण यजुर्वेद की चारों संहिताओं में वर्णित यागानुष्ठानों की एक विस्तृत सूची दी गई है, जिससे यह साम्य बहुत स्पष्ट हो जाता है ।

आदित्य सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि ग्रन्थ शुक्ल यजुर्वेद है । इसमें केवल मन्त्रों का ही संकलन है । तन्नियोजक ब्राह्मण इसमें नहीं है । गुरु वैशम्पायन से विवाद हो जाने पर

---

1. महाभाष्य 4 / 3 / 101 ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते ।
   4 / 2 / 66 ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते ।
   इत्येवमिह्णपि स्यात् कठं महत् सुविहितमिति ॥ .

याज्ञवल्क्य ने उनकी परम्परा का त्याग कर दिया और आदित्य (सूर्य) को प्रसन्न करके उनके अनुग्रह से शुक्ल यजुष् प्राप्त किऐ थे—ऐसा आख्यान प्रसिद्ध है । डॉ.जैन ने इस आख्यान का खण्डन करते हुए लिखा है—"याज्ञवल्क्य ने ये यजुः साक्षात् आदित्य से नहीं, शिष्य परम्परा में उद्दालक आरुणि से प्राप्त किए । 'आदित्याद्' इस पाठ से यह भ्रम उत्पन्न किया गया । बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' ।(बृ.उ. 6/5/4) ।———अतःशुक्ल यजुर्वेद की मूल परम्परा तैत्तिरीय संहिता की परम्परा के समान ही अति प्राचीन है ।"[1]

याज्ञवल्क्य के पन्द्रह शिष्यों से शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह संहिताएँ अथवा शाखाएँ प्रवर्तित हुईं किन्तु सम्प्रति शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं, माध्यन्दिन तथा काण्व । माध्यन्दिन शाखा की संहिता में 40 अध्याय तथा 1975 मन्त्र हैं तथा इसका प्रचार सम्प्रति उत्तर भारत में है । काण्वसंहिता में भी 40 ही अध्याय हैं किन्तु मन्त्र 2086 हैं अर्थात् माध्यनन्दिन शाखा की संहिता से 111 मन्त्र अधिक हैं । अन्यथा अध्यायों एवं मन्त्रों का क्रम तुल्य ही है । आजकल इसका प्रचार महाराष्ट्र में है ।

शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता वाजसनेयी संहिता के नाम से प्रसिद्ध है । ऐसी अनुश्रुति है कि सूर्य ने वाजि (अश्व) का रूप धारण करके इस संहिता का उपदेश याज्ञवल्क्य ऋषि को दिया था, इसी कारण इसका नाम वाजसनेयी संहिता पड़ा । इस संहिता का शतपथ ब्राह्मण, ईशोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् भी सर्वमान्य ग्रन्थ हैं ।

यजुर्वेद की विषय वस्तु—यजुर्वेद की विषयवस्तु से परिचय प्राप्त करने के लिए शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का अनुशीलन पर्याप्त है क्योंकि यही संहिता यजुर्वेद की प्रतिनिधि ग्रन्थ है । यह सम्पूर्ण संहिता यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं एवं विधियों से परिपूर्ण है । इस संहिता में 40 अध्याय हैं जिनमें अन्तिम पन्द्रह अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध हैं और समयक्रम मे परवर्ती माने जाते हैं । (यह विवेचन विषयवस्तु के पश्चात किया जाएगा) । इसके प्रतिपाद्य विषय अध्यायक्रम से इस प्रकार है । पहले तथा दूसरे अध्याय में दर्श तथा पौर्णमास यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र हैं । चौथे से आठवें अध्याय तक सोमयागों, उससे सम्बद्ध अग्निष्टोम तथा तीनों सवनों आदि के विधान के लिए मन्त्र प्राप्त होते है । नवें तथा दसवें अध्याय में वाजपेय एवं राजसूय यज्ञ के विधान के विस्तृत विवरणात्मक मन्त्र हैं । ग्यारहवें से अठारहवें अध्याय तक 'अग्निचयन' का वर्णन बहुत विस्तृत एवं सूक्ष्म विधि विधानों से युक्त है । यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदी का निर्माण किस प्रकार किया जाए—उस स्थान, आकृति, इष्टिकाओं की संख्या तथा आकार आदि का वर्णन बहुत मनोयोग एवं मार्मिकता से किया गया है । इसी में सोलहवाँ अध्याय रुद्राध्याय नाम से प्रसिद्ध है जिसमें शतरुद्रिय होम का प्रसंग है तथा रुद्र के स्वरूप की विस्तृत परिकल्पना प्रस्तुत की गई है । उन्नीसवें से इक्कीसवें अध्याय तक

---

1. जैन कुेवरलाल — वैदिक साहित्य का इतिहास पृष्ठ 102 .

सौत्रामणि यज्ञ का विधान वर्णित है। इस यज्ञानुष्ठान का विधान राजच्युत राजा, पशुकाम यजमान तथा सोमरस की अनुकूलता से पराङ्मुख व्यक्ति के लिए किया जाता था। बाइसवें से पचीसवें अध्याय तक आर्यों के महान् अश्वमेध यज्ञ के विशिष्ट मन्त्रों का निर्देश है, जिसे सार्वभौम प्रभुता पद के इच्छुक सम्राट सम्पन्न किया करते थे। छब्बीसवें से उन्तीसवें अध्याय तक पूर्वोक्त विभिन्न अनुष्ठानों से सम्बद्ध नवीन मन्त्र दिए गए है। तीसवें अध्याय में पुरुषमेध का वर्णन है जिसमें 184 पदार्थो के आलम्भन-बलि-का निर्देश है। इकतीसवें अध्याय में पुरुष सूक्त में विराट् पुरुष का स्वरूप वर्णन है। इस यजुर्वेदीय पुरुष सूक्त में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की अपेक्षा छह मन्त्र अधिक हैं तथा मन्त्रों का क्रम भी परिवर्तित है। बत्तीसवें तथा तैंतीसवें अध्याय में सर्वमेध यज्ञ के मन्त्र हैं। चौंतीसवें अध्याय के प्रारम्भ में शिवसंकल्प सूक्त के छह मन्त्र हैं जिनमें मन के महत्त्व का प्रतिपादन करके मन के शिव संकल्प होने की उदात्त एवं रमणीय प्रार्थना है। प्रत्येक मन्त्र 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' वाक्य से समाप्त होता है। यह लघुकाय सूक्त भारतीय ऋषि की उस सूक्ष्म, अन्तर्भेदिनी तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि का भलीभाँति परिचय देता है जिसने मनस्तत्व के महत्त्व का सम्पूर्ण आकलन कर लिया था। पैंतीसवे अध्याय में पितृमेध तथा छत्तीसवें से अड़तीसवें अध्याय में प्रवर्ग्ययाग के मन्त्र प्राप्त होते हैं। उन्तालीसवें अध्याय में नरमेध अथवा अन्त्येष्टि के मन्त्रों का विधान है। अन्तिम चालीसवाँ अध्याय प्रसिद्ध ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् है। इस का नाम प्रथम मन्त्र के प्रारम्भिक पदों के आधार पर पड़ा है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिद् जगत्यां जगत्!
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

यह ईशावास्योपनिषद् वाजसनेयी संहिता का ही एक अंश होने के कारण सर्वप्राचीन माना जाता है क्यों कि अन्य कोई उपनिषद् संहिता का अंशरूप नहीं है।

शुक्ल यजुर्वेद के चालीस अध्यायों में से प्रारम्भिक अठारह अध्याय अथवा पच्चीस अध्याय मूल रचना माने जाते हैं, शेष बाईस अध्यायों अथवा पन्द्रह अध्यायों को बाद में जोड़ा गया—ऐसा विद्वानों का कथन है। इस मान्यता के लिए अनेक प्रमाण भी दिए गए हैं—

1. शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम अठारह अध्यायों में ही मन्त्र भाग है। पिछले बाईस अध्यायों का विषय अविकल रूप से तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में उपलब्ध होता है।

2. वाजसनेयी संहिता से सम्बद्ध ब्राह्मणों में इस संहिता के प्रारम्भिक अठारह अध्यायों की ही प्रतिपद व्याख्या की गई है। 19 से 35 तक के अध्यायों के कतिपय मन्त्रों का विवरण ही ब्राह्मणों में मिलता है।

3. कात्यायन रचित शुक्ल यजुर्वेद की अनुक्रमणी में भी 26 से 35 तक के दस अध्यायों को 'खिल' कहा गया है अर्थात् वे परिशिष्ट मात्र हैं।

4. संहिता के प्रारम्भिक 25 अध्यायों में जिन यज्ञों का विनियोग किया जा चुका है, उन्हीं से सम्बद्ध मन्त्र पुनः 26 से 29 अध्यायों में प्राप्त होते हैं अतः वे बाद में जोड़े गए प्रतीत होते हैं।

5. 30 से 39 तक के अध्यायों में जिन सर्वयज्ञ, पुरुषमेध, पितृयज्ञ आदि का वर्णन है वे

नितान्त नवीन यज्ञ एवं प्रयोग हैं। 40 वाँ अध्याय उपनिषद् रूप है जिसका यज्ञीय प्रयोग-विधान से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

6. शुक्ल यजुर्वेद का सोलहवाँ अध्याय रुद्र देव की स्तुति से सम्बद्ध है। उस शतरुद्रिय में रुद्र के दो प्रसिद्ध नाम 'ईशान' तथा 'महादेव' नहीं हैं किन्तु 39 वें अध्याय में रुद्र के ये दोनों नाम उल्लिखित हैं। शैव धर्म के विकास में यह परवर्ती विशेषण हैं। इसी प्रकार सोलहवें अध्याय की अपेक्षा तीसवें अध्याय में वर्णसंकर (प्रत्यन्तर) जातियों की संख्या बहुत अधिक है।

"उपर्युक्त आधार पर शुक्ल यजुर्वेद में कालक्रमानुसार चार स्तर पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं। इसका मूल भाग अध्याय 1–18 तक है जिसमें आगे चलकर और अगले सात अध्याय जोड़े गए हैं, कारण इन दोनों अंशों का विषय सामान्य रूप से यज्ञीय विधियों से सम्बद्ध है। प्रयोग विधि के कुछ और जटिल हो जाने पर अगले चौदह अध्याय सम्मिलित किए गए जो पूर्वोक्त अनुष्ठानों (अ.26-29) अथवा बिल्कुल नवीन क्रियाकलाप (अ.30-39) से सम्बद्ध हैं। अन्तिम अध्याय तो निश्चय ही उस समय जोड़ा गया है जब यागादि विधियों के अतिरेक के फलस्वरूप जनता के मन में प्रतिक्रिया शुरु हो गई थी। इसमें यज्ञीय मन्त्रों का सन्निवेश नहीं है, इसका लक्ष्य एकान्त भक्ति तथा यज्ञानुष्ठान के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का है।"[1]

यजुर्वेदीय धर्म—सामान्यतः देखने पर यजुर्वेद में प्रतिपादित धर्म ऋग्वेद से तत्त्वतः भिन्न नहीं जान पड़ता। प्रायः सभी विद्वानों ने यही धारणा प्रस्तुत की है, किन्तु वास्तविक दृष्टि इससे भिन्न ही है। देवताओं का समूह तो वही रहा, पर उनके स्वरूप, पूर्वापरता, महत्त्व आदि सबमें बहुत अधिक परिवर्तन हो गया। ऋग्वेद में केवल देवस्तुति ही धर्म की मूल आधार शिला थी। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न देवों के लिए सरल संक्षिप्त यज्ञ सम्बद्ध अग्नि में हवि डालते हुए ऋषि विभिन्न स्तुतियाँ करते थे; यही उस समय की सर्वश्रेष्ठ धार्मिक विधि थी। किन्तु यजुर्वेद के समय में यज्ञ-विधि देवता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। धर्म की आधार भित्ति देव माहात्म्य एवं स्तुति से हट कर यज्ञ सम्पादन पर आ गई। ऋग्वेद में देवस्तुति में भावना प्रधान थी, इसीलिए ऋग्वेद का प्रत्येक देव सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमहिमा सम्पन्न है। किन्तु यजुर्वेद में यज्ञानुष्ठान की क्रिया ही प्रमुख बन गई। भावना की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व मिल जाने से यजुर्वेद में धर्म का मूल स्वरूप ही बदल गया। यजुर्वेदीय धर्म की विशिष्टताओं का संक्षिप्त स्वरूप कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है—

1. यजुर्वेद में कुछ देवता ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए। इन्द्र के महत्त्व में सर्वाधिक न्यूनता आई। अग्नि का स्वरूप भी परिवर्तित होकर 'देवमुख' (देवों तक हवि ले जाने वाली) के रूप में अधिक प्रतिष्ठित हुआ। विष्णु का महत्त्व अधिक हो गया और वे यज्ञस्वरूप ही मान लिए गए। प्रजापति अपने ऋग्वैदिक अमूर्त रूप की अपेक्षा मुख्य देव पद की ओर अग्रसर

---

1. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास — (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग पृष्ठ 166

हुए। रुद्र का तो समग्र स्वरूप ही परिवर्तित होने लगा। अब वे रुद्र की अपेक्षा शिव,ईशान,शंकर तथा महादेव जैसे विशेषणों से मण्डित होकर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण देवता पद पर अधिष्ठित हो गए। इस प्रकार परवर्ती पौराणिक देववाद का समस्त मूल यजुर्वेदीय देवता स्वरूप में प्राप्त हो जाता है।

2. यजुर्वेदीय धर्म में एक नवीन विशेषता दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण एवं शुक्ल-दोनों ही यजुर्वेदों में 'शतरुद्रिय' अध्याय में रुद्र अथवा शिव के शताधिक नामों से स्तुति की गई है। ये सभी विभिन्न नाम रुद्र की विभिन्न शक्तियों एवं सामर्थ्य के द्योतक हैं। इस रुद्राध्याय ने भारतीय धर्म के इतिहास में एक नवीन परम्परा को जन्म दिया जिसमें अपने आराध्यदेव में सभी विभिन्न ऐश्वर्यों और महिमाओं की परिकल्पना करके उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाने लगा। शिव सहस्रनाम, विष्णु सहस्रनाम,कृष्ण सहस्रनाम आदि इसी परम्परा का पोषण करते हैं।

3. यजुर्वेद के धर्म की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता है—सूत्रात्मक अथवा एकाक्षर स्तुतियाँ। इनका अर्थ क्या था,इस को जाने बिना अथवा ध्यान मे लाए बिना ही याज्ञिक अनुष्ठानों में इनका उच्चारण अत्यधिक पवित्रता से किया जाता था। 'स्वाहा','स्वधा','वषट्', 'वेट', 'वाट्', 'ओऽम्' आदि ऐसे ही सूत्रात्मक मन्त्र हैं,जो यजुर्वेद में सर्वप्रथम प्राप्त होते है और सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी आज तक इन शब्दों का असाधारण पवित्र महत्त्व माना जाता है। इन सब शब्दों में भी 'ओऽम्'अथवा 'ॐ'शब्द सर्वाधिक महत्त्वशाली बना। उपनिषद् काल तक आते आते 'ॐ'शब्द साक्षात् परब्रह्म का ही वाचक बन गया।'दुर्बोध व्यञ्जनों अथवा अर्धवर्णों का प्रणव (ओंकार) सहित उच्चारण मात्र करना ही सम्पूर्ण प्रयोग स्वीकार किया जाने लगा।'

4. जैसा पहले संकेत किया जा चुका है,ऋग्वेद में देवता साध्य अथवा लक्ष्य थे,जिनको प्रसन्न करने के लिए मन्त्र पूर्वक किया जाता हुआ यज्ञ साधन था। यज्ञ ही वह सरल उपाय था जिससे देवों का अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता था। किन्तु यजुर्वेद में स्थिति नितान्त परिवर्तित हो गई। इस ग्रन्थ में यज्ञ ही विचार और अनुष्ठान का सर्वोच्च केन्द्र बन गया और विभिन्न यज्ञों को विधिवत् सम्पादित करने में प्रयुक्त सूक्ष्म से सूक्ष्म विधियाँ ही व्यक्ति की एकाग्र मान्यताएँ बन गई। यजुर्वेद की इतनी अधिक शाखाएँ होने का भी यही कारण है। तनिक सा विचार वैषम्य अथवा विधि की भिन्नता होने पर भिन्न भिन्न शाखाएँ विकसित हो गई, क्योकि यजुर्वेद में यज्ञ को अलौकिक शक्तिसम्पन्न माना गया था।

5. इस युग मे पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण बन गया। यज्ञों की संख्या, प्रकार, एवं विधिविधान बढ़ जाने के कारण यज्ञकार्य सरल न रह कर एक कठिन प्रक्रिया बन गया, जिसका निष्पादन प्रत्येक सामान्य जन नहीं कर पाता था। इसलिए यज्ञानुष्ठान में प्रवीण पुरोहित यजमान का कार्य सम्पन्न करा देता था।

धर्म एवं धार्मिक विचारधारा की दृष्टि से यदि निष्पक्ष होकर विवेचन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि यजुर्वेद के समय में परम शक्ति के स्थान पर यज्ञ को सर्वोच्च महत्त्व देने से धर्म की

अन्तर्निहित भावना का पर्याप्त ह्रास हुआ। नियमानुसार अनुष्ठान एवं यज्ञ कार्य कर लेने मात्र से देवों को वशीभूत कर सकने का विचार दृढ़ हो जाने पर स्वभावतः ही उस नैतिकता और शुचिता के पालन पर विशेष बल नहीं रहा, जो किसी भी धर्म का आधार स्तम्भरूप गुण है।

यजुर्वेद का महत्त्व—इस वेद का भारतीय जीवन में निजी वैशिष्ट्य है। यजुर्वेद ने यज्ञों को आवश्यकतानुसार वर्षा, समृद्धि अथवा अन्य इच्छित फल देने वाला वर्णित करके उन्हें असाधारण महत्त्वशाली बना दिया। यजुर्वेद में न केवल याज्ञिक विधि विधान हैं अपितु विभिन्न नियमादि की स्थापना अथवा इच्छित परिवर्तनों की दृष्टि से किया गया वाद विवाद भी प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यजुर्वेद का मुख्य उद्देश्य पौरोहित्य शिक्षा जान पड़ता है जिससे पुरोहित गण भली प्रकार यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करा सकें। वैदिक कर्मकाण्ड के साथ साथ धर्म के इतिहास की दृष्टि से भी यजुर्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय धर्म के इतिहास के विविध रूपों एवं प्रभावों के सामान्य अथवा विशिष्ट अनुसंधित्सु के लिए यजुर्वेद संहिता एक विशिष्ट पड़ाव है। यजुर्वेद को समझे बिना ब्राह्मण तथा परवर्ती ग्रन्थों के जटिल कर्मकाण्ड को तथा अन्तर्निहित दार्शनिक तत्त्व को समझा ही नहीं जा सकता। यजुर्वेद के अध्ययन से समाज की परिवर्तित होती हुई व्यवस्था का भी सम्यग्तया ज्ञान हो जाता है। यज्ञ का महत्त्व बढ़ने के साथ साथ समाज में ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था। ऋग्वेद का परवर्ती कहा जाने वाला 'पुरुष सूक्त' यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है जिससे समाज में चातुर्वर्ण्य के दृढ़तया स्थापित हो जाने का प्रमाण मिलता है। चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त समाज में जातिव्यवस्था भी सुदृढ़ होने लगी थी। वाजसनेयी संहिता के सोलहवें तथा तीसवें अध्याय में अनेक वर्णसंकर जातियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन के सम्बन्ध में पहले कहा ही जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड तथा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति आदि के ज्ञान की दृष्टि से यजुर्वेद संहिता का निजी वैशिष्ट्य है।

सामवेद संहिता

यज्ञ में उद्गाता देवों की स्तुति में स्वरसहित मन्त्रगान करता है। इस औद्गात्रकर्म के लिए आवश्यक मन्त्रों का संग्रह ही सामवेद है। 'साम' शब्द में देवताओं अथवा दैत्यों को प्रसन्न करने अथवा उनके क्रोध को शान्त कर देने का मूल भाव निहित है। यह मूल भाव इस शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों से स्पष्ट हो जाता है-

1. स्मयति नाशयति विघ्नमिति सामन्—जो विघ्नों का नाश करता है वह साम है।
2. समयति सन्तोषयति देवान् अनेन इति सामन्—जिसके द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट कर दिया जाए, वह साम है।

ऋक् एवं साम में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। साम शब्द का प्रयोग मुख्यतया दो अर्थों में किया गया है। (1) ऋक् मन्त्रों के लिए साम शब्द का प्रयोग होता है। (2) ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गान भी साम हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् ने द्वितीय अर्थ को ग्रहण करते हुए साम शब्द

का अर्थ 'ऋक् से सम्बद्ध स्वर प्रधान गान' माना है ।[1] इस उपनिषद् के अनुसार साम शब्द में 'सा' का अर्थ ऋक् है और अम का अर्थ षडज, ऋषभ आदि से निषाद पर्यन्त सात स्वर हैं । छान्दोग्योपनिषद् ने एक स्थल पर ऋक् और साम को अभिन्न माना है[2] और एक दूसरे स्थल पर साम को ऋक् पर आधारित कहा है ।[3] वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् गन्थों में ऋक् एवं साम में दाम्पत्य भाव की कल्पना करते हुए इस घनिष्ठ सम्बन्ध का अनेकशः कथन किया गया है ।[4]

सामान्यतया सर्वत्र यह धारणा प्रचलित है कि सामवेद में ऋग्वेद के ही गेय मन्त्रों का संकलन मात्र है अतः सामदेव अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है । किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है । वैदिक साहित्य में सामवेद का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है । बृहद्देवता ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि 'जो साम को जानता है वही वेद के रहस्य को जानता है'—सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम् । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सामवेद को ही अपना स्वरूप घोषित किया है ।[5] ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी साम की विपुल प्रशंसा है । ऋषि स्पष्ट कहता है—'जो निरन्तर जागृत है उसी को ऋक् और साम प्राप्त होते हैं । किन्तु जो निद्रालु (असावधान) है, वह इनमें कदापि प्रवीण नहीं हो सकता ।'[6] वस्तुतः ऋक् और साम के पारस्परिक सम्बन्ध अथवा साम के वैशिष्ट्य का अर्थ यही है कि वैदिक साहित्य में सामवेद का स्थान किसी भी अन्य वेद की अपेक्षा न्यून नहीं है । विभिन्न देवों की स्तुतियों के मन्त्र ऋग्वेद में है किन्तु उन मन्त्रों को स्वरों के आरोह अवरोह सहित किस प्रकार गाया जाए, यह सम्पूर्ण विधि सामवेद में ही है । अतः सामवेद के ज्ञान के बिना ऋग्वेद का ज्ञान अपूर्ण ही है ।

सामवेद ऋग्वेद पर तो पूर्णतया आधारित है ही, किन्तु अप्रत्यक्षतया इसका यजुर्वेद से भी साम्य है, क्योंकि 'इन दोनों का संग्रह यज्ञ के क्रियात्मक उद्देश्य' के अभिप्राय से हुआ था । यजुर्वेद का संकलन याज्ञिक अनुष्ठान की दृष्टि से हुआ और सामवेद का संकलन सोमयागों में गाए जाने वाले मन्त्रों की दृष्टि से हुआ । ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों से ऋचाएँ संकलित कर के सामवेद बना जिससे सोमयज्ञों के विभिन्न अनुष्ठानों में उन्हे गाया जा सके ।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् — 1 / 3 / 22 — सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम् ।
सा ऋक् तथा सह सम्बद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्त्तते तत्साम ।
2. छान्दोग्योपनिषद् 1 / 3 / 4 — या ऋक् तत् साम ।
3. छान्दोग्योपनिषद् 1 / 6 / 1 — ऋचि अध्यूढं साम ।
4. अथर्ववेद 14 / 2 / 71; ऐतरेय ब्राह्मण 8 / 27 ;
बृहदारण्यक उपनिषद् 6 / 4 / 20 — अमोऽहमस्मि सा त्वम्, सामाहमस्म्यृक् त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं । ताविह सम्भवाव प्रजामा जनयावहै ।
5. श्रीमद् भगवद्गीता 10 / 42 — वेदानां सामवेदोऽस्मि ।
6. ऋग्वेद 5 / 44 / 14 — यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते,
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।

सामवेद की मन्त्रसंख्या 1875 है । इनमें 1771 मन्त्र ऋग्वेद से ग्रहण किए गए हैं अतः केवल 104 मन्त्र ही सामवेद में नवीन हैं । किन्तु ऋग्वेद के 1771 मन्त्रों में से 267 मन्त्र पुनरुक्त हैं और सामवेद के 104 नए मन्त्रों में से पाँच मन्त्र पुनरुक्त हैं । इस प्रकार सामवेद में कुल 99 मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में सर्वथा अप्राप्त हैं । सामवेद में ऋग्वेद के लगभग सभी मण्डलों से मन्त्र संगृहीत हैं किन्तु अधिकांश मन्त्र आठवें तथा नवें मण्डल से ग्रहण किए गए है ।

सामवेद दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक । **पूर्वार्चिक**—इसमें छह प्रपाठक अथवा अध्याय हैं तथा कुल 650 मन्त्र हैं । ऋग्वेद के भिन्न भिन्न मण्डलों में विभिन्न ऋषियों के द्वारा दृष्ट एक ही देवता विषयक मन्त्रों का इसमें संकलन है । प्रथम प्रपाठक की संज्ञा 'आग्नेयकाण्ड' या 'आग्नेयपर्व' है । जैसा कि इस नाम से ही स्पष्ट है,इसमें अग्नि देवता से सम्बद्ध मन्त्र हैं । द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ प्रपाठक में इन्द्र के स्तुतिपरक मन्त्र हैं, अतः ये तीनों मिल कर 'ऐन्द्र पर्व' कहलाते हैं ! पञ्चम प्रपाठक का अभिधान 'पवमान पर्व' है । इसमें सोम-विषयक ऋचाएँ संकलित हैं जो ऋग्वेद के नवम मण्डल (सोम पवमान) से उद्धृत की गई हैं । षष्ठ प्रपाठक का नाम आरण्यक पर्व है । इस षष्ठ प्रपाठक में न तो देवताविषयक ऐक्य है और न ही छन्द की समानता । किन्तु इस अध्याय में गान-विषयक एकता प्राप्त होती है । प्रथम से पञ्चम प्रपाठक तक का मन्त्रसमूह 'ग्राम गान'कहलाता है किन्तु छठे प्रपाठक की ऋचाएँ अरण्य गान है ।

उत्तरार्चिक—इसमें नौ प्रपाठक हैं और मन्त्रों की संख्या कुल 1225 है । ये समस्त मन्त्र 400 गीतों में समाहित हैं । प्रत्येक गीत में तीन तीन अथवा कदाचित चार चार मन्त्र हैं । प्रत्येक गीत में आए हुए मन्त्र अथवा ऋचाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं । उत्तरार्चिक में आए हुए प्रत्येक ऋचासमूह की प्रथम ऋचा (मन्त्र) पूर्वार्चिक में भी प्राप्त होती है । उत्तरार्चिक का महत्त्व पूर्वार्चिक की अपेक्षा इस दृष्टि से कुछ न्यून है कि उत्तरार्चिक में पूर्वार्चिक की बहुत अधिक पुनरावृत्ति है । सामगान की दृष्टि से पूर्वार्चिक के प्रत्येक मन्त्र की लय स्मरण करनी होती है; पर उत्तरार्चिक में कोई नवीन लय नहीं है । उत्तरार्चिक के मन्त्रसमूहों का प्रथम मन्त्र पूर्वार्चिक में जिस लय में गाया जाता है,वही लय उस सम्पूर्ण तीन या चार मन्त्रों वाले समूह के गान में प्रयोग की जाती है । प्रो. राममूर्ति शर्मा के मत में "वह विद्यार्थी जो उद्गाता होने का इच्छुक था, पहले तो पूर्वार्चिक की ऋचाओं को उस रूप में स्मरण करता होगा जिस रूप में उनका यज्ञ में गान किया जाता था ।——पूर्वार्चिक में ऋचाओं का विकास प्रमुखतः छन्द की दृष्टि से किया गया है और गौण रूप में स्तूयमान देवताओं दृष्टि से । किन्तु उत्तरार्चिक में सामों का विन्यास प्रमुख यज्ञों की दृष्टि से किया गया है ।" [1]

सामवेद की कितनी शाखाएँ थीं,इस सम्बन्ध में पतञ्जलि का 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' वाक्य अतिप्रसिद्ध है,जिससे सामवेद की एक हजार शाखाओं का पता चलता है । किन्तु कहीं भी इन सहस्र शाखाओं के नाम उपलब्ध नही होते । अतः अनेक विद्वानों का यह कथन है कि पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त

---

1. शर्मा, राममूर्ति — वैदिक साहित्य का इतिहास पृष्ठ 78

'वर्त्म' शब्द का अर्थ शाखा नहीं है अपितु इसका तात्पर्य यही है कि सामवेद के गान की एक सहस्र पद्धतियाँ प्रचलित थीं। श्री सातवलेकर एवं श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने यही मन्तव्य उपस्थापित किया है। जैमिनि गृह्यसूत्र ने सामवेद की 13 शाखाएँ गिनाई हैं जिनमें से सम्प्रति तीन शाखाएँ उपलब्ध होती हैं।

1 कौथुम शाखा—इसी शाखा की संहिता सर्वाधिक प्रचलित है। आद्य शंकराचार्य ने वेदान्तभाष्य में अनेक स्थलों पर इस शाखा का नाम निर्देश किया है। ताण्ड्य ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद की इसी शाखा से सम्बद्ध हैं। इसमें मन्त्रों की गणनापद्धति अध्याय, खण्ड, मन्त्र—इस प्रकार है। इस शाखा का प्रचलन अधिकांशतया गुजरात के नागर ब्राह्मणों में हैं।

2 राणायनीय शाखा—इस शाखा की संहिता तथा कौथुम शाखा की संहिता में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों में वे ही मन्त्र उसी क्रम से प्राप्त होते हैं किन्तु इस शाखा की गणना पद्धति भिन्न प्रकार की है जो प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति, मन्त्र—इस प्रकार है। दोनों शाखाओं के उच्चारण में भी कहीं कहीं पार्थक्य है। सम्प्रति राणायनीय शाखा का प्रचार महाराष्ट्र में है।

3 जैमिनीय शाखा—इस शाखा की संहिता अन्य दोनों शाखाओं से पर्याप्त भिन्न है। इसकी मन्त्रसंख्या 1687 है अर्थात् कौथुम शाखा की अपेक्षा इसमें 182 मन्त्र कम हैं। सम्प्रति इस शाखा के समग्र ग्रन्थ—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौत तथा गृह्यसूत्र उपलब्ध हो गए हैं। इसी शाखा की एक और अवान्तर शाखा तवल्कार शाखा है जिससे केनोपनिषद् सम्बद्ध है।

सामवेद की उपलब्ध इन तीनों शाखाओं में कोई वास्तविक स्वरूपगत भेद नहीं है। भेद केवल उच्चारण के सम्बन्ध में है। भिन्न भिन्न शाखा के अन्तर्गत उन्हीं मन्त्रों का भिन्न प्रकार से उच्चारण किया जाता है। सामवेद संहिता के जितने पाठ प्राप्त होते हैं उनमें मन्त्र उसी रूप में दिए गए हैं जिस रूप में वे गाए जाते रहे होंगे। संगीत के स्वर तो सात ही हैं किन्तु सामवेद को संगीतमय बनाने के लिए जो कुछ परिवर्तन किए गए, उन्हे **साम विकार** कहा जाता है। ये सामविकार संख्या में छह हैं—

1 परिवर्तन—शब्द के उच्चारण में परिवर्तन; यथा 'अग्ने' के स्थान पर 'अग्नायि'।

2 विश्लेषण—एक पद को पृथक् पृथक् करके बोलना; यथा 'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोयायि'।

3 विकर्षण—एक ही स्वर का दीर्घ समय तक उच्चारण; यथा 'आयाहि' के स्थान पर 'आयाही3'।

4 अभ्यास—पद का पुनः पुनः उच्चारण; यथा तोयायि तोयायि।

5 विराम—सुविधा अथवा लय उत्पन्न करने के लिए पदों के मध्य अत्यल्प रुक जाना।

6 स्तोभ—गायन में कतिपय निरर्थक वर्णो अथवा शब्दों को जोड़ना-हो, वा, औ, हाऊ, रायि आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

साम गान के पाँच रूप अथवा भाग होते हैं जिनके अन्तर्गत उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—इन तीन स्वरों का विभिन्न प्रकार से समावेश होता है—

1. प्रस्ताव—इसको प्रस्तोता नामक ऋत्विज् गाता है।

2. उद्गीथ—इसका गायन उद्गाता करता है।

3. प्रतिहार—इसको प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विज् गाता है।

4. हिंकार अथवा उपद्रव—इसका गायन पुनः उद्गाता ही करता है।

5. निधन—प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्त्ता तीनों ऋत्विज् मिल कर एक साथ साम गान के इस भाग को गाते हैं।

वर्तमान युग में वेदविहित रूप में स्वरसहित सामगान अत्यन्त कठिन हो गया है। सम्प्रति सामवेद गायन प्रथा दक्षिण के कुछ विद्वानों में सीमित रह गई है।

सामवेद का महत्त्व—साम संहिता के इस संक्षिप्त विवेचन से इसका महत्त्व स्पष्टतः प्रगट हो जाता है। सामवेद का सर्वप्रमुख वैशिष्ट्य इसकी संगीतात्मकता है। भारतीय संगीत का मूल उद्गम स्रोत सामवेद ही है, इसीलिए गन्धर्ववेद को इसका उपवेद कहा गया है। गन्धर्ववेद में ही भारतीय साहित्य की विभिन्न राग रागिनियों का वर्णन हुआ। नाट्यशास्त्र में उसी संगीत का वृहद् विवरण है और नाट्यशास्त्र ही विविध ललितकलाओं का मूल ग्रन्थ प्रचारित हुआ। इस प्रकार जीवन में शोभा, मंगल और आनन्द का प्रसार करके मन को प्रफुल्लित तथा आनन्दमय बना देने वाली ललितकलाओं में प्रमुख-संगीत-इसी सामवेद की देन है। यज्ञ की दृष्टि से भी सामवेद का महत्त्व न्यून नहीं है। प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति ही यज्ञमय थी और सामवेद का यज्ञ के क्रियात्मक रूप से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त सामवेद में उपासना तत्त्व प्रमुख है। आध्यात्मिक दृष्टि से ओंकार तत्त्व का प्रामुख्य बढ़ कर ब्रह्मरूप हो गया। इस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन उपासना है। सामवेद संगीत और भक्ति के द्वारा इस उपासना को सम्पन्न करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सामवेद के सामों अथवा रागों को ऐन्द्रजालिक शक्ति से युक्त माना गया है अतः भारतीय अभिचार के इतिहास की दृष्टि से भी सामवेद का विपुल महत्त्व है।

अथर्ववेद संहिता

वेदों की चारों संहिताओं में अथर्ववेद की एक निजी और अन्यतम विशिष्टता रही है। इस वेद के 'अथर्व' शब्द की सुन्दर व्याख्या यास्काचार्य के निरुक्त तथा गोपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। निरुक्तकार के अनुसार 'थर्व' धातु गत्यर्थक है और अथर्व का अर्थ है—गतिहीन अथवा स्थिरता युक्त।[1] अतः इस व्युत्पत्ति की दृष्टि से अथर्ववेद में उस योग का कथन है जिससे चित्त में स्थिरता एवं दृढ़ता लाई जा सके। गोपथ ब्राह्मण ने 'अथर्वा' शब्द को 'अथर्वाक्' शब्द का संक्षिप्त रूप कहा है।[2] तदनुसार गोपथ ब्राह्मण ने इसका अर्थ प्रस्तुत किया है—समीपस्थ आत्मा को अपने अन्दर

---

1. निरुक्त 11 / 18 अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः।

2. गोपथ ब्राह्मण 1 / 14 — अथ अर्वाग् एनं...... अन्विच्छेति, तद्यदब्रवीत्
अथार्वाङेनमेतास्वप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्।

देखना। इस अभिप्राय के अनुसार अथर्ववेद वह संहिता है जिसमें आत्मा को अपने अन्दर देखने की शिक्षा है। पाश्चात्य विद्वानों ने 'अथर्व' शब्द का कुछ भिन्न ही अर्थ किया है जो आगे प्रस्तुत किया जाएगा।

वर्तमान युग में इस संहिता का 'अथर्ववेद' नाम ही सर्वाधिक अथवा एकमात्र प्रचलित नाम है; किन्तु प्राचीन काल में इसके विविध नाम थे। इनमें कतिपय नाम अन्य ग्रन्थों में हैं तथा कुछ नाम स्वयं अथर्ववेद में ही हैं। इन समस्त नामों के आधार रूप में या तो मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं अथवा अथर्ववेद में प्राप्त तत्तत् विशिष्ट विषयवस्तु है।

अथर्ववेद—इस वेद का नाम अथर्वन् ऋषि के नाम पर पड़ा। क्योंकि इन्ही ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रों की संख्या (1768) इसमें सर्वाधिक हैं।[1] कुछ विद्वानों के अनुसार 'थर्व' धातु कुटिलता एवं हिंसावाची है अतः अकुटिलता तथा अहिंसा योग से ब्रह्म प्राप्ति कराने के कारण इस संहिता को अथर्ववेद कहा गया। किन्तु धातु पाठ में 'थर्व' धातु का यह अर्थ कहीं प्राप्त नही होता।

ब्रह्मवेद—ऋग्वेदादि संहिताएँ होत्रकर्म तथा यागानुष्ठान आदि की प्रतिपादक हैं किन्तु यज्ञ में ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के कर्म का निष्पादक होने के कारण अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' कहलाता है। यह नाम अथर्व वेद में भी उपलब्ध होता है।[2] मुण्डकोपनिषद के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा इस वेद का उपदेश दिए जाने के कारण यह ब्रह्मवेद कहलाया और ब्रह्मा के अथर्वा नामक ज्येष्ठ पुत्र के कारण अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध हुआ।[3]

अथर्वाङ्गिरस वेद—यह इस संहिता का अत्यन्त प्राचीन नाम है। अथर्ववेद की प्राचीन हस्त लिखित प्रतियों के मुखपृष्ठ पर भी यह नाम पाया जाता है। अथर्वा एवं आंगिरस ऋषियों तथा उनके वंशजों के द्वारा दृष्ट मन्त्रसमूह इस संहिता में होने के कारण यह अथर्वांगिरस नाम पड़ा।[4] ब्राह्मणग्रन्थों तथा छान्दोग्य उपनिषद् आदि में इस संहिता का यह नाम अनेक बार प्रयुक्त् हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों ने संहिता के इस नामकरण का भिन्न ही अर्थ प्रस्तुत किया है।[5] तदनुसार 'अथर्व' एवं 'अंगिरस' शब्द क्रमशः अभिचार की सात्विक एवं तामसिक विधियों का अर्थ प्रगट करते हैं। 'अथर्व' शब्द आनन्द, सुख तथा उन्नति से सम्बद्ध पवित्र अभिचार का द्योतक है और 'अंगिरस' शब्द शत्रु, विरोधी, पापी तथा मायावी जनों के प्रति अभिशाप से सम्बद्ध विरोधात्मक अभिचार का द्योतक है। यही दोनों प्रकार की अभिचार विधियाँ प्रमुख रूप से अथर्ववेद की विषयवस्तु को प्रस्तुत करती हैं—अतः इस संहिता का अथर्वांगिरस नामकरण हुआ।

---

1. गोपथ ब्राह्मण 1 / 5 — स आथर्वणो वेदोऽभवत्।
2. अथर्ववेद 15 / 5 / 6 — तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।
3. मुण्डकोपनिषद् 11 / 11 — ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
   स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्टपुत्राय प्राह ॥
4. अथर्ववेद 10 / 7 / 20 — अथर्वांगिरसो मुखम्।
5. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग पृष्ठ174

क्षत्रवेद—शतपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद को क्षत्रवेद की संज्ञा दी गई है ।[1] इस संहिता में राजाओं और क्षत्रियों के विविध कर्तव्यों का निर्देश किए जाने के कारण ही सम्भवतः यह नाम दिया गया हो ।

छन्दोवेद—अथर्ववेद का यह नाम ऋग्वेद तथा स्वयं अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है ।[2] पुरुषसूक्त में सर्वहुत यज्ञ में उत्पन्न ऋक्, साम तथा यजुष् के साथ छन्द (अथर्ववेद) की उत्पत्ति कही गई है ।

महीवेद—स्वयं अथर्ववेद में इस संहिता के लिए 'मही' नाम उपलब्ध होता है ।[3] अथर्ववेद के बारहवें काण्ड में प्राप्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण पृथिवी सूक्त के कारण सम्भवतः यह नाम पड़ा हो ।

अथर्ववेद की शाखाएँ—पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'नवधाऽथर्वणो वेदः' कह कर इस वेद की 9 शाखाओं का उल्लेख किया था । चरणव्यूह तथा सायणभाष्य की भूमिका में भी अथर्ववेद की नौ ही शाखाएं कही गई हैं, किन्तु नामों में भिन्नता है । ये नाम इस प्रकार हैं—(1) पैप्पलाद, (2) तौद, (3) मौद, (4) शौनकीय, (5) जाजल, (6) जलद, (7) ब्रह्मवद, (8) देवदर्श, (9) चारणवैद्य । इन नौ शाखाओं में से सात शाखाओं का तो नाममात्र ही अवशिष्ट रहा है, केवल पैप्पलाद एवं शौनकीय शाखा के ही कुछ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं ।

1. पैप्पलाद शाखा—पिप्पलाद ऋषि के नाम पर इस शाखा का नामकरण हुआ । प्राचीनकाल में इस शाखा की बहुत ख्याति थी । इस शाखा की एकमात्र प्रति काश्मीर में शारदा लिपि में प्राप्त हुई थी । तत्कालीन काश्मीर नरेश ने 1875 ई. में वह प्रति प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. रॉथ को उपहार रूप में भेज दी । 1901 ई. में अमेरिका में इसकी फोटोस्टेट प्रति छपी । बाद में डॉ. रघुवीर ने भी इसका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया । पतञ्जलि के प्रमाण से यह स्पष्ट है कि महाभाष्य काल में अथर्ववेद की यही शाखा सर्वाधिक प्रचलित थी ।

2. शौनकीय शाखा—आजकल प्रचलित अथर्ववेद संहिता इसी शौनकीय शाखा की है । प्रसिद्ध गोपथ ब्राह्मण इसी शाखा से सम्बद्ध है । इस संहिता में 20 काण्ड, 731 सूक्त तथा 5987 (पाँच हजार नौ सौ सतासी) मन्त्र हैं ।

वर्तमान युग में उपलब्ध पैप्पलाद एवं शौनक शाखाओं में पर्याप्त अन्तर है । पैप्पलाद शाखा में गद्यभाग भी अधिक है और अभिचार मन्त्र भी अधिक हैं । दोनों का प्रारम्भिक मन्त्र भी भिन्न भिन्न है । गोपथ ब्राह्मण और महाभाष्य में अथर्ववेद का 'शन्नो देवीरभिष्टये' प्रथम मन्त्र कहा

---

1. शतपथ ब्राह्मण 14 / 8 / 14 / 2 से 4 — उक्थं...... यजुः..... साम..... क्षत्रं वेद ।
2. ऋग्वेद 10 / 90 / 9 — तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
   अथर्ववेद— 11 / 7 / 24 — ऋचः सामानिच्छंदासि पुराणं यजुषा सह ।
3. अथर्ववेद 10 / 7 / 14 — ऋचः साम यजुर्मही ।

गया है,[1] यह पैप्पलाद शाखा की संहिता में प्रथम मन्त्र ही हैं। किन्तु शौनक शाखा में 'ये त्रिषप्ता परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत्'—यह मन्त्र प्रथम उल्लिखित है। इस दृष्टि से पैप्पलाद शाखा की अथर्ववेद संहिता प्राचीनतर जान पड़ती है किन्तु वह सम्पूर्ण रूप में सर्वसुलभ नहीं है। सम्प्रति शौनक शाखा की संहिता का ही प्रचार है।

अथर्ववेद का विन्यास क्रम—अथर्ववेद के संकलन में कतिपय विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होती है। सम्पूर्ण अथर्ववेद का लगभग पंचमांश-1200 मन्त्र—ऋग्वेद से संगृहीत है। ये मन्त्र ऋग्वेद के विशेषतः प्रथम, अष्टम और दशम मण्डल से लिए गए हैं। अन्य मण्डलों से भी कुछ मन्त्र ग्रहण किए गए हैं। अथर्ववेद के विभिन्न काण्डों में प्रथम काण्ड से पंचम काण्ड तक प्रत्येक में सूक्तों की मन्त्रसंख्या बढ़ती चली गई है। प्रथम काण्ड के प्रत्येक सूक्त में 4-4 मन्त्र, द्वितीय काण्ड के सूक्तों में 5–5 मन्त्र, तृतीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में 6-6 मन्त्र और चतुर्थ काण्ड के सूक्तों में 7–7 मन्त्र हैं। पाँचवें काण्ड के सूक्तों में मन्त्र संख्या समान नहीं है पर 8 से 18 तक मन्त्र इसके सूक्तों में पाए जाते हैं। छठे काण्ड के 142 सूक्तों में एकाधिक सूक्त को छोड़कर अन्य सभी सूक्तों में 3–3 मन्त्र हैं। सातवें मण्डल में 118 सूक्त है जिनमें किसी सूक्त में केवल एक मन्त्र तथा अन्य में दो मन्त्र मात्र हैं। इन सभी काण्डों का प्रथम सूक्त विषय परिचय की दृष्टि से रखा गया प्रतीत होता है। आठवें से चौदहवें काण्ड तथा सत्रहवें एवं अठारहवें काण्ड में प्राप्त सूक्तों में मन्त्रसंख्या पर्याप्त अधिक है। इनके बीच में पन्द्रहवाँ काण्ड पूर्णतया गद्यात्मक है और सोलहवें काण्ड में भी अधिकांशतः गद्य ही है। शैली की दृष्टि से अथर्ववेद का यह गद्य ब्राह्मण गन्थों के गद्य के सदृश जान पड़ता है। अन्तिम उन्नीसवाँ एवं बीसवाँ– ये दो काण्ड खिल (परिशिष्ट) माने जाते है। बीसवें काण्ड के अधिकांश मन्त्र इन्द्रस्तुति में हैं और ऋग्वेद से अविकल रूप में गृहीत हैं। अथर्ववेद के प्रातिशाख्यों में भी इन अन्तिम दोनों काण्डों का कोई विवरण अथवा उल्लेख नहीं मिलता।

अथर्ववेद की विषयवस्तु—अथर्ववेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम आदि ऋग्वेदीय देवों की स्तुतियाँ भी हैं और धर्म, अध्यात्म, पाप, पुण्य आदि का दार्शनिक विवेचन भी है। भृगु, कश्यप, अंगिरस् आदि प्राचीन ऋषि भी हैं और बादरायण, गोपथ, उद्दालक आदि अनेक नवीनतम ऋषि भी हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने अथर्ववेद में विविध प्रकार के अभिचार मन्त्रों का ही आधिक्य प्रतिपादित किया, किन्तु इस संहिता में आत्मज्ञान एवं ब्रह्मविद्या का अत्यन्त उत्कृष्ट विवेचन भी प्राप्त होता है। चिकित्सा, राजधर्म, विवाह, गृहस्थ जीवन, कृषि, वाणिज्य आदि अनेक विषयों पर अनेक सूक्त रचे गए हैं। अन्य वेदों में विषयों की यह विविधता अनुपलब्ध ही नहीं, अचिन्तनीय भी है।

अथर्ववेद में काण्डों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं। पहले काण्ड में पाशमोचन, शर्मप्राप्ति तथा विविध रोगों से छुटकारा पाने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र हैं। दूसरे काण्ड में भी रोग निवृत्ति के साथ शत्रु एवं कृमिनाशन तथा दीर्घायुष्य सम्बन्धी मन्त्र हैं। तीसरे

1. गोपथ ब्राह्मण 1 / 29 —
   महाभाष्य-पस्पशाह्निक

काण्ड में राजकर्म से सम्बद्ध मन्त्र हैं जिनमें शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ राजा का संवरण, कृषि एवं पशुपालन के मन्त्र हैं। चौथे काण्ड में ब्रह्मविद्या, ब्रह्मौदन, राज्याभिषेक आदि से सम्बद्ध मन्त्र हैं। इसी में वृष्टि सूक्त (4/15) भी है जिसमें वृष्टि का बड़ा ही रमणीय तथा साहित्यिक वर्णन किया गया है। पाँचवाँ काण्ड कृत्यापरिहार, सर्पविषनाशन आदि मन्त्रों से युक्त है। छठे काण्ड में विभिन्न ऋतुओं के ज्वर तथा बुरे स्वप्नों को नष्ट करने तथा अन्नसमृद्धि से सम्बद्ध मन्त्र हैं। इस काण्ड में पति के वशीकरण निमित्त भी अनेक सूक्त हैं। सातवें तथा आठवें काण्ड में आत्मा, मणि तथा विराट् ब्रह्म से सम्बद्ध मन्त्र प्राप्त होते हैं। नवें काण्ड में मधुविद्या, अतिथिसत्कार, यक्ष्मनाशन आदि के मन्त्र हैं। दसवें काण्ड में कृत्या निवारण, सर्पविषनाशन तथा विराट् ब्रह्म के महत्त्व का वर्णन है। इसी काण्ड में प्रसिद्ध गोसूक्त (10/10) है जिसमें गौ जगत् की सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में चित्रित की गई है तथा संसार के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में गौ का वर्णन किया गया है। ग्यारहवें काण्ड में रुद्र, ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मौदन का वर्णन है। बारहवें काण्ड में भूमि का महत्त्व वर्णन करने वाला पृथिवी सूक्त है जिसको पाश्चात्य एवं भारतीय सभी विद्वानों ने एक स्वर से अत्यन्त उदात्त, भावप्रवण तथा सरस माना है। इस सूक्त में मातृभूमि की कल्पना अत्यन्त मनोहर तथा चमत्कारिणी है। भूमि का सर्वांगीण रूप इस सूक्त में उपस्थित किया गया है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' यह उद्घोष पृथिवी को वात्सल्यमयी एवं पोषणकर्त्री माँ के रूप में हमारे नेत्रों के सम्मुख सजीव कर देता है। तेरहवाँ काण्ड आध्यात्मविषयक है। चौदहवें काण्ड में केवल दो ही लम्बे सूक्त हैं जिनमें प्रधानतया विवाहसंस्कार का वर्णन है। इसमें अनेक मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के विवाह सूक्त ग्रहण किए गए है। पन्द्रहवाँ काण्ड व्रात्य काण्ड है। इस काण्ड के दो अनुवाकों में 18 सूक्त हैं जिनमें अनेक गद्यात्मक मन्त्र भी हैं। व्रात्य का सामान्य अर्थ है—द्विजकुल में जन्म लेने पर भी उपनयनादि संस्कार से रहित मनुष्य, जो आचार विचार से रहित हो और नियम श्रृंखला में बद्ध न हो। किन्तु अथर्ववेद के इस काण्ड में व्रात्य का लाक्षणिक अर्थ प्राप्त होता है। यहाँ व्रात्य का अर्थ है—ब्रह्म, क्योंकि यह ब्रह्म न तो संसार के नियमों में आबद्ध है और न ही कार्यकारण की भावना से ओतप्रोत है। इसी व्रात्य ब्रह्म के स्वरूप तथा उससे उत्पन्न सृष्टिक्रम का व्यवस्थित वर्णन इस पन्द्रहवें काण्ड में उपलब्ध होता है। सोलहवें काण्ड में दुस्वप्ननाशक मंत्रों का सुन्दर संग्रह है। सत्रहवें काण्ड में अभ्युदय के लिए भव्य प्रार्थना की गई है। अठारहवें काण्ड में पितृमेध सम्बन्धी मन्त्र संकलित हैं, अतः यह श्राद्धकाण्ड कहलाता है। सामान्यतया इन मन्त्रों को अन्त्येष्टि तथा पितृबलि से सम्बद्ध माना गया है। अन्तिम दोनो—उन्नीसवाँ तथा बीसवाँ—काण्ड खिल काण्ड रूप में प्रसिद्ध हैं अतः ये दोनों काण्ड मूल ग्रन्थ की रचना के बाद में जोड़े गए माने जाते हैं। दोनो काण्डों में मन्त्रों की संख्या बहुत अधिक है। उन्नीसवें काण्ड में भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि, यज्ञ, नक्षत्र, काल का महत्त्व आदि से सम्बद्ध मन्त्र हैं, तथा बीसवें काण्ड में सोमयाग के लिए आवश्यक मन्त्र एवं इन्द्र स्तुति है। इसी बीसवें काण्ड के अन्त में कुन्तापसूक्त हैं। ये संख्या में दस है (सूक्तसंख्या 127 – 136) इन सूक्तों के इस विशिष्ट-कुन्ताप-नाम का अर्थ ही दुर्बोध्य है। ये सूक्त अथर्ववेद के मौलिक अंश हैं। इन के सम्बन्ध में मैक्डॉनल का विचार है कि "ये सूक्त ऋग्वेद की दानस्तुतियों की कोटि के हैं। इनमें

दानी राजा और यजमानों की श्लाघा की गई है जो वीर राजन्य और भटों के पराक्रमों का वर्णन करने वाले वीर काव्यों के पुरोगामी कहे जा सकते हैं।"[1]

अथर्ववेद के बीसों काण्डों में प्राप्त सम्पूर्ण विषय सामग्री को त्रिविधतया विभाजित किया जा सकता है।

1. आध्यात्मिक वर्णन—ब्रह्म, परमात्मा, आत्मज्ञान आदि विषयों के मन्त्र।

2. आधिदैविक वर्णन—विभिन्न देवताओं की स्तुतियों और नाना यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र।

3. आधिभौतिक वर्णन—राज्य, युद्ध, चातुर्वर्ण्य, विवाह आदि विषयों के मन्त्र।

कुछ विद्वानों ने भिन्न भिन्न विषयों के आधार पर अथर्ववेद के विभिन्न सूक्तों का विभाजन किया है।[2] संक्षेप रूप में इन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

भैषज्य सूक्त—अथर्ववेद संहिता के सूक्तों का एक बहुत बड़ा भाग विभिन्न रोगों की चिकित्सा से सम्बद्ध है। मनुष्य के शरीर में रोग लाने वाले दैत्यों को दूर भगाने से लेकर रोग निवारण में समर्थ ओषधियों की स्तुतियाँ तक इन मन्त्रों में प्राप्त होती हैं। अनेक रोगों के नाम, लक्षण और चिह्न इन मन्त्रों में स्पष्ट वर्णित हैं। शरीर के विभिन्न अंगों (2/33/1 — -7;20/96/17 — -23) के वर्णन के साथ साथ ज्वर, यक्ष्मा, कुष्ठ, जलोदर, कास (खाँसी, कफ), कृमिजन्य रोग, उन्माद, नेत्ररोग, हृदयरोग आदि के निवारण के विविध मन्त्र तथा उपचार अथर्ववेद में वर्णित हैं।[3] किसी भी प्रकार के विष तथा सर्पदंश को दूर करके[4] मनुष्य को स्वस्थ बनाने का वर्णन भी इन मन्त्रों में प्राप्त होता है। रोगों के उपचार और ओषधियों के प्रयोग का विस्तृत वर्णन प्राप्त होने के कारण ही इन सूक्तों को भैषज्य सूक्तों में परिगणित किया गया है तथा आयुर्वेद की दृष्टि से ये विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

आयुष्य सूक्त—जैसा नाम से ही स्पष्ट है, इन सूक्तों में सुन्दर स्वास्थ्य एवं दीर्घ आयु के लिए प्रार्थनाएँ की गई है। वस्तुतः भैषज्य और आयुष्य सूक्तों में बहुत सूक्ष्म अन्तर ही है। केशान्त संस्कार, उपनयन संस्कार आदि पर होने वाले पारिवारिक महोत्सवों के अवसर पर इन मन्त्रों का पाठ किया जाता रहा होगा। इन मन्त्रों में सौ वर्ष तक जीवन प्राप्ति, सौ वर्षो तक मृत्यु से बचना, सम्पूर्ण आयु में रोगमुक्त रहना आदि प्रार्थनाएँ सन्निहित हैं।[5] अथर्ववेद के मन्त्रों में रक्षा करण्डकों (ताबीज)

---

1. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास — (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग — पृष्ठ 174
2. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास — (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग—पृष्ठ 180 – 187
   उपाध्याय, बलदेव — वैदिक साहित्य और संस्कृति — पृष्ठ 157 – 163
   शर्मा, राममूर्ति — वैदिक साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 85 – 93
   जोशी खण्डेलवाल — वैदिक साहित्य की रूपरेखा—पृष्ठ 180 – 201
3. अथर्ववेद — 1 / 12; 1 / 17; 1 / 23; 2 / 8; 2 / 31; 5 / 22; 5 / 32; 6 / 25; 6 / 105; 7 / 20 आदि।
4. अथर्ववेद — 5 / 13 / 6, 7, 8, 10, 11 आदि।
   4 / 6 / 1 — ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
   स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषः ॥
5. अथर्ववेद 17 वाँ मण्डल।

का भी वर्णन है जिन्हें धारण करने वाले को दीर्घायु प्राप्त होती थी, रोग मुक्ति होती थी तथा शत्रु नष्ट हो जाते थे।[1]

पौष्टिक सूक्त— आयुष्य सूक्तों के लगभग समान भावना पौष्टिक सूक्तों में भी प्राप्त होती है। हल जोतना,बीज बोना, धान्यादि उत्पन्न करना, कृषि को हानि पहुँचाने वाले कीटों का नाश आदि कृषि कर्म के लिए[2], गृह निर्माण के लिए[3], व्यापार तथा वाणिज्य करने हेतु विदेश यात्रा करने वाले वणिक्[4] के लिए आशीर्वादात्मक प्रार्थना परक मन्त्र इस कोटि में आते हैं। सभा तथा द्यूतादि में विजय प्राप्ति के मन्त्र भी इसी श्रेणी में परिगणित किए गए है।[5] इसका वर्षागीत (4/15) काव्यात्मकता की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। 'पवन से प्रताड़ित होकर ये पयोद भले ही विभिन्न दिशाओं में अग्रसर हो जाएं, किन्तु मेघ से आवृत्त महान् वृषभ के तीव्र गर्जना करने पर वृष्टिधाराएं पृथिवी को तृप्त कर दें।'[6]

प्रायश्चित सूक्त—इन सूक्तों में प्रायः धार्मिक विरोध, विधिहीन आचरण, चारित्रिक त्रुटि (यथा ऋण का परिशोध न करना, वर्जित विवाह कर लेना आदि) तथा ज्ञात-अज्ञात अपराधों के परिणामों से बचने के लिए की गई प्रार्थनाएँ मन्त्र रूप में समाहित हैं। "भारतीय विचारधारा में, भारतीय विश्वास के अनुक्रम में प्रायश्चित केवल पापों के निवारण के हेतु ही आवश्यक नहीं है, अपितु प्रायश्चित शब्द का विधान चारित्रिक नियमों के विरोध में किए गए पतनों के प्रति भी होता है, धर्म का विरोध करने वाले विचारों के प्रति भी होता है और यज्ञ तथा अन्य विधिहीन आचरणों के शान्तिप्रद विधानों के प्रति भी होता हे।"[7] सामान्यतः 'पाप' शब्द से सभी अपराध, त्रुटियाँ, निषिद्ध आचरण आदि अर्थ द्योतित होते हैं। इसीलिए ऋषि प्रार्थना करता है-'जाग्रत अवस्था में अथवा स्वप्नावस्था में मैने जो भी पापकर्म किया हो, उन सभी भूत अथवा भविष्यत् कर्मों से मुझे मुक्त कर दो, जिस प्रकार काष्ठ स्तम्भ से बँधा हुआ प्राणी मुक्त कर दिया जाता है।'[8]

स्त्रीकर्म सूक्त—श्रृंगार, प्रेम आदि का सम्बन्ध प्रायः पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों से अधिक

---

1. अथर्ववेद 1 / 29 / 4 — अभीवर्तो अभीभवः सपत्नक्षयणो मणिः।
   राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥

   10 / 3 ; आदि
2. अथर्ववेद — 3 / 14; 3 / 15; 3 / 17; 6 / 91; 8 / 9 आदि
3. अथर्ववेद — 3 / 12; 9 / 3 आदि
4. अथर्ववेद — 3 / 15; 7 / 60; 17 / 1; आदि
5. अथर्ववेद — 7 / 12; 7 / 50 आदि
6. अथर्ववेद — 4 / 15 / 1 — समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतो समभ्राणि वात जूतानि यन्तु।
   महत्रऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥
7. जोशी खण्डेलवाल — वैदिक साहित्य की रूपरेखा — पृष्ठ 182
8. अथर्ववेद — 6 / 115 / 2 — यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
   भूतं मा तस्माद् भव्यञ्च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥

जोड़ा जाता है इसीलिए अथर्ववेद में आए हुए प्रेम, विवाह, सन्तानोत्पत्ति आदि से सम्बद्ध मन्त्रों को स्त्रीकर्म की संज्ञा दी गई। स्त्रीकर्म सूक्तों में परिगणित मन्त्रों को दो कोटियों में स्पष्टतः विभाजित किया जा सकता है। एक प्रकार का मन्त्रसमूह शान्ति, सुख और मंगलकामना से परिपूर्ण है जिनमें विवाह, सुखकर दाम्पत्य, सन्तान कामना, गर्भ रक्षा, सन्तानोत्पत्ति (1/11) पत्नी का मधुर आचरण[1] आदि विषय पाए जाते हैं। अथर्ववेद संहिता के चौदहवें काण्ड के सभी सूक्त इस दृष्टि से उल्लेखनीय एवं मननीय हैं। स्त्रीकर्म का ही दूसरा मन्त्रसमूह अशान्ति, दुख, अपवित्रता तथा अकल्याण से परिपूर्ण है, जिसमें व्यभिचार, वैवाहिक जीवन में विघ्न, सपत्नीनाश (1/14/1 — —4;7/113;7/114 आदि), बलात् सम्मोहन (4/5), वशीकरण (1/34;2/30;3/25;6/8;6/130 आदि), वन्ध्याकरण (7/35) तथा नपुसंकत्व (6/138;7/90) आदि विषय पाए जाते हैं।

राजकर्म सूक्त—अथर्ववेद में कुछ सूक्त ऐसे हैं जिनमें राष्ट्र, राजा, प्रजा, शत्रुपक्ष, संग्राम में विजय आदि अनेक विषय प्राप्त होते हैं। इन्हे ही सम्मिलित रूप में राजकर्म सूक्त कहा जाता है। इन सूक्तों के परिशीलन से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का एक विशद चित्र सम्मुख दृष्टिगोचर होने लगता है। प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन (3 / 4), राजा का अभिषेक (1 / 19 / 1; 4 / 8), राजा और राजकृत् तथा सभा समिति (3/5/6, 7; 7/12), शत्रु नाश (5/21/ 6, 11/10/1), शत्रुओं को पराजित करने हेतु योद्धाओं का आह्वान (5 / 20, 5 / 21) तथा राष्ट्र (12 / 1, 13 / 1) आदि विषय राजकर्म के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त देशरक्षा, मित्र एवं शत्रुराष्ट्र, राजकीय आय के स्रोत, न्याय एवं दण्डव्यवस्था, सेना तथा सेनापति आदि अनेक राजनीति से सम्बद्ध मन्त्र अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्मण्य सूक्त अथवा दार्शनिक सूक्त—इन सूक्तों में अध्यात्मवाद तथा विश्व के उत्पत्तिविषयक मन्त्र प्राप्त होते है। परमेश्वर की सर्वात्मकता का भव्य वर्णन (4/16), रहस्यात्मक रोहित सूक्त (13/1से4 सूक्त) गूढ़ आध्यात्मिकता (10/2,11/8) आदि से सम्पन्न इन मन्त्रों में दर्शन के गम्भीरतम तत्त्वों की विशद् समीक्षा प्राप्त होती है। इस संहिता के उन्नीसवें काण्ड के 53 और 54 सूक्त में काल को प्रत्येक वस्तु के आविर्भाव का प्रमुख कारण कहा गया है। काल में ही मन, प्राण, तप, ब्रह्म, प्रजापति आदि सभी समाहित हैं।[2] काल ही ब्रह्म है और काल ही परमेष्ठी को भी धारण करता है।[3] इस प्रकार अथर्ववेद के ये दार्शनिक सूक्त उस दार्शनिक विचारधारा के मध्य की जोड़ देने वाली गुटिका के सदृश हैं जिसके एक ओर ऋग्वेद का सरल दर्शन है तो दूसरी ओर उपनिषदों का प्रौढ़ दर्शन।

पृथिवी सूक्त—उच्च कल्पना, प्रौढ़ काव्यकला तथा भावुकता की दृष्टि से अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त अत्यन्त चर्चित रहा है। इसे **भूमि सूक्त** भी कहा जाता है क्योंकि इस

---

1. अथर्ववेद 3 / 30 / 2 .... जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम्।
2. अथर्ववेद 19 / 53 / 7
3. अथर्ववेद 19 / 53 / 9

सूक्त के 63 मन्त्रों में से अधिकाश मन्त्रों में 'भूमि' शब्द आया है। भूमि मात्र की प्रशंसा में कथित यह सूक्त प्रकारान्तर से मातृभूमि के यशोगान अथवा राष्ट्रवन्दना का सूक्त है। अत्यधिक विशाल तथा विविध स्वरूप वाली इस सम्पूर्ण पृथिवी में मातृभूमि रूप अंश ही मानव का सुपरिचित एवं आत्मीय बनता है। इसी पृथिवी पर पूर्वजों ने महत् कार्य सम्पादित किए और देवताओं ने असुरों को पराजित किया।[1] मानव मन की उदात्ततम भावनाएँ तथा आचरण ही पृथिवी को धारण करते हैं। 'महान् सत्य, प्रचण्ड शाश्वत नियम, दीक्षा, तपस्या, मन्त्र और यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं। हमारे अतीत और भविष्य की रक्षा करने वाली वह पृथिवी (यह) विशाल लोक हमारे लिए करे।'[2] 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के उद्घोष से भारतीय संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की जो उदार भावना संवर्धित हुई है, वही भावना इस भूमि सूक्ति में भी अनुस्यूत है। 'हे पृथिवी। नीरोग तथा यक्ष्मा रहित रूप में उत्पन्न हम लोग तुम्हारे ऊपर रहते रहें। दीर्घायु तथा ज्ञानवान् रहते हुए हम तुम्हारे लिए बलि दें।'[3] भाषा और धर्म को आधार बना कर मानव-मानव के मध्य जो वैमनस्य फैलता है, उसका निराकरण करके राष्ट्रीय ऐक्य का प्रतिपादन करता हुआ ऋषि उच्च स्वर में उद्घोष करता है- 'अनेक प्रकार से विविध भाषाओं को बोलने वाले तथा अनेक प्रकार के धर्मो का पालन करने वाले जनों को एक घर में रहने वाले मनुष्यों की भाँति धारण करती हुई हमारी यह पृथिवी स्थिर होकर दुधारु गाय की भाँति मुझे धन की सहस्रों धाराएँ प्रदान करे।'[4] इस प्रकार अथर्ववेद का यह पृथिवी सूक्त एक अनुपम ही सूक्त है।

संज्ञान सूक्त अथवा शान्तिस्थापना मन्त्र—सम्पूर्ण अथर्ववेद के विभिन्न मण्डलों में अनेक सूक्त तथा अन्य सूक्तों के अनेक मन्त्र इस प्रकार के हैं, जिनमें पारिवारिक ईर्ष्या तथा द्वेष का निराकरण, परिवार के सदस्यों में स्नेह व सौहार्द तथा परिवार में समृद्धि के हेतु आदि का सुन्दर वर्णन है। ऐसे सूक्तों तथा मन्त्रों को संज्ञान सूक्त कहा गया है। तृतीय मण्डल का तीसवाँ सूक्त तो सौमनस्य सूक्त के नाम से ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सातवें मण्डल के साठवें सूक्त के सातों ही मन्त्र पारिवारिक ऐक्य, पुरुषार्थ, पारस्परिक प्रेम, तथा परिवार के सदस्यों की समृद्धि तथा कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। परिवार ही नही अपितु सम्पूर्ण कुल में मिल जुल कर रहना (6/73/3), परिवार के प्रत्येक सदस्य द्वारा कर्तव्यपालन एवं संगठन से समृद्धि (1/15/2); परिवार में सबके पवित्र आचरण से घर का स्वर्ग सदृश होना (6/120/3), उत्तम पुरुषार्थ से ही श्री वृद्धि एवं विजय (7/50/8), शुभ काम (इच्छा) का आवाहन (9/2/19,25), सभी ऋतुओं तथा सभी वर्षों के सुखकर होने (6/55/23)

---

1. अथर्ववेद 12 / 1 / 5 यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

2. अथर्ववेद 12 / 1 / 1— सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
   सा न भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवीं नः कृणोतु॥

3. अथर्ववेद 12 / 1 / 62— उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
   दीर्घं न आयुः प्रतिबुद्ध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥

4. अथर्ववेद 12 / 1 / 45— जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
   सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

आदि की भावना से सम्पन्न ये सूक्त एवं मन्त्र मनुष्य को निरन्तर कल्याण की ओर प्रेरित करते हैं। ऐसे ही मन्त्रों में 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'(3/24/5) के द्वारा समाजवाद का प्रसार करते हुए दान की महिमा का प्रशस्त गान किया गया है(20/127/12)। नवें मण्डल का छठा सूक्त भी इस दृष्टि से मननीय है जिसमें भारतीय संस्कृति के एक विशिष्ट तत्त्व—अतिथि सत्कार—की महत्ता को स्फुटतया स्पष्ट किया गया है।

वेदों में अथर्ववेद की परिगणना—अथर्ववेद संहिता मूलतया ही वेदों के साथ प्रतिष्ठित थी अथवा परवर्ती युग में इसको यह सम्मान प्राप्त हुआ—इस विषय को लेकर भी विद्वानों ने अनेक ऊहापोह प्रस्तुत किए हैं। वेद के लिए 'त्रयी' शब्द के प्रयोग के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने सर्वप्रथम अत्यन्त बलपूर्वक इस धारणा को प्रस्तुत किया कि ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद परवर्ती काल की रचना है और पर्याप्त समय बाद ही इस मन्त्रसंहिता को भी वेद मानकर 'वेदचतुष्टय' अभिधान प्रचलित हुआ। अधिकांश भारतीय विद्वानों ने भी इसी धारणा को स्वीकार कर लिया। अपनी धारणा के समर्थन में उन्होने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए; यथा—भाषा, छन्द एवं विषयवस्तु की दृष्टि से अथर्ववेद अन्य तीनों वेदों से भिन्न और परवर्ती है। भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अथर्ववेद में परवर्ती कालीन हैं। ऋग्वेद के अपेक्षाकृत अर्वाचीन पुरुष सूक्त में तो चतुर्वर्ण का नामोल्लेख मात्र है किन्तु अथर्ववेद में ब्राह्मण वर्ग की शक्ति एवं महत्ता अनेक स्थानों पर समादर पूर्वक वर्णित है। अथर्ववेद के अध्यात्मवाद एवं सृष्टिवाद से सम्बद्ध सूक्तों में जितनी सूक्ष्म एवं दुरूह दार्शनिक विचारधारा का प्रस्फुटन है, वह निश्चितरूप से उपनिषत्काल की भूमिका है-आदि। मैक्डॉनल की दृष्टि में "केवल ऋक्, यजुः और साम ही मूल संहिताएँ मानी जाती हैं। कारण, इनका ही यज्ञिय विधि विधान से सम्बन्ध पाया जाता है। अन्तिम अध्याय को छोड़कर शेष अथर्ववेद यज्ञिय विधि से किसी तरह सम्बन्ध नहीं रखता। ऐसा लगता है अन्तिम अध्याय इसी उद्देश्य से जोड़ दिया हो कि अथर्ववेद का यज्ञानुष्ठान से कुछ सम्बन्ध स्थापित हो जाए।——परवर्ती अध्यायों में सोमयाग का कल्प वर्णित है जो अथर्ववेद के स्वरूप का अनुवर्ती नहीं है। निश्चय ही यह अंश अथर्वसंहिता को चतुर्थवेद का पद प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही संकलित किया गया है। यज्ञकल्प के संविधान के आधार पर ही इतर तीन वेदों के समकक्ष अथर्वसंहिता की भी गणना होने लगी।"[1]

अथर्व संहिता तथा अन्य संहिताओं का गम्भीर अनुशीलन करने पर उपर्युक्त समस्त तथ्य सम्पूर्णतया सत्य प्रतीत नहीं होते। अथर्व संहिता को प्रारम्भ से ही वेद पद प्राप्त था, इस पक्ष में भी अनेक तर्क प्रस्तुत किए जा सकते है। ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद के लिए त्रयी अभिधान प्रयुक्त होने तथा उसमें अथर्ववेद के सम्मिलित न किए जाने का कारण कुछ और ही है। अथर्ववेद की अपेक्षा अन्य तीनों वेदों में देवस्तुति, देवगान तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड का प्रतिपादन था और ये समस्त स्तुतियाँ, यज्ञ आदि पारलौकिक उन्नति के हेतु स्वरूप थे। किन्तु अथर्ववेद के अधिकांश मन्त्र

---

1. मैक्डॉनल — संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग—पृष्ठ 171 – 174

इहलोक से सम्बद्ध कल्याण, सुख और समृद्धि प्रदान कराने के साधन रूप हैं। भारत भूखण्ड में परलोक की अपेक्षा इहलोक को सदैव हेय माना गया। इसी कारण 'त्रयी' नाम में अथर्ववेद को सम्मिलित नहीं माना गया। इसी के समकक्ष एक कारण और भी है। आर्यो की संस्कृति यज्ञप्रधान थी, उनका समस्त आचरण यज्ञ को केन्द्र बना कर ही होता था। यज्ञों में ऋक्, यजुः और साम इन तीन वेदों के मन्त्रों का तो साक्षात् उपयोग किया जाता था, किन्तु अथर्ववेद के मन्त्रों का पाठ यज्ञों में नही होता था। अथर्ववेद के मन्त्र यज्ञप्रधान थे ही नहीं। इसीलिए 'त्रयी' नाम में अथर्ववेद की गणना नहीं हुई। किन्तु इससे यह अर्थ कदापि नहीं ग्रहण किया जा सकता कि अथर्वसंहिता पहले वेद थी ही नहीं, बहुत बाद में वेद रूप में समादृत हुई। स्वयं ऋग्वेद में ही अथर्ववेद का नाम प्राप्त होता है। इस वेद के विभिन्न नामों के अर्थ को बताते समय ऋग्वेद में आए हुए 'छन्दांसि' पद से अथर्ववेद नाम ग्रहण होने का प्रसंग बताया ही जा चुका है। इसी प्रकार ऋग्वेद में यज्ञ के चारों ऋत्विजों—होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा—के कार्यों का भी स्पष्ट निर्देश है।[1] इसके अतिरिक्त 'त्रयी' संज्ञा का अर्थ भी पूर्वमीमांसा में भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार 'त्रयी' नाम ग्रन्थों पर निर्भर नहीं हैं अपितु ग्रन्थ के स्वरूप पर निर्भर है। मन्त्रों के पद्यबन्ध स्वरूप को ऋक् कहा जाता है, गीति को साम और गद्य को यजुः।[2] अथर्ववेद में इन तीनों का समावेश होने के कारण इसका पृथक् उल्लेख नहीं है। भारतीय परम्परा में अथर्ववेद भी अन्य तीनों वेदों के सदृश ही प्रमाणित एवं समादरणीय है।

अथर्ववेद का महत्त्व—अथर्ववेद की विषयवस्तु के विवेचन से ही इसके महत्त्व का सम्यग्तया परिज्ञान हो जाता है। चारों वेदों मे यही एकमात्र वेद है जिसने इहलोक को भी महत्त्व देकर इहलौकिक सिद्धि में सहायक मन्त्रों का उच्चार किया। अथर्ववेद में मर्त्य जीवन को सुखपूर्ण एवं बाधा रहित बनाने के लिए विभिन्न अनुष्ठानों का विधान किया गया है। यह वेद भौतिक विषयों के विस्तृत विवेचन में कृतकार्य है। शान्ति, सुख, अभ्युदय आदि के साथ साथ इसमें शाप, नाश तथा प्रतिघात से सम्बद्ध विभिन्न मन्त्र एकत्र स्थित हैं। प्राचीन मानव की विचित्र एवं विविध क्रियाओं, आचार विचारों, अन्धविश्वास, रूढ़ियों, कृत्या प्रयोग, वशीकरण, सम्मोहन, उदात्त एवं अनुदात्त भावों आदि के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए अथर्ववेद ही बहुमूल्य स्रोत स्थल है। अतः समाज शास्त्र तथा नृवंश विद्या के छात्र अथवा अध्येता के लिए इस वेद संहिता का अस्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद में भारतीय धर्म के इतिहास का प्रगतिशील चरण तो परिलक्षित होता ही है; किन्तु साथ ही आदिम मानव के भूत-प्रेत-पिशाचादि विश्वास तथा अभिचारादि कर्म भी इस संहिता में सुरक्षित हैं। अतः धर्म के इतिहास को जानने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए भी यह अथर्वसंहिता अत्यन्त उपादेय है। ऋक्, यजुः तथा साम संहिताओं का सम्बन्ध श्रौत (वैदिक) यज्ञों से है और यज्ञ विधान मे वे तीनों

---

1. ऋग्वेद 10 / 71 / 11 — ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
   ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

2. जैमिनीय सूत्र 2 / 1 / 35 — — 37

अन्योन्याश्रित हैं। किन्तु अथर्ववेद का सम्बन्ध (20वे काण्ड का छोड़कर) अधिकांशतया गृह्य कर्मकाण्ड अथवा राज्याभिषेक सम्बन्धी कर्मकाण्ड से है। इस दृष्टि से अथर्ववेद की निजी स्वतन्त्र सत्ता है। 'त्रयी' ने यज्ञ को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना था किन्तु अथर्ववेद ने यज्ञों में उच्चारण किए जाने वाले मन्त्रों को ही महत्ता सम्पन्न माना। "मन्त्र में शक्ति है। मन्त्र आत्मा में निहित शक्ति के उद्भावन की कुंजी हैं अतः उनका प्रयोग बिना यज्ञों का आश्रय लिए हुए किया गया है। यह अथर्ववेद की एक मौलिकता है। इस प्रकार यज्ञ भौतिकरूप मात्र न रहकर मानस (भावनात्मक) स्तर पर पहुँच गया है।"[1] अथर्ववेद संहिता भारतीय भैषज्य विद्या का भी आदि ग्रन्थ ही है। अन्तिम कुछ काण्डों को छोड़कर इसके लगभग प्रत्येक काण्ड में कतिपय सम्पूर्ण सूक्तों अथवा मन्त्रों में विविध रोगों के नाम, लक्षण, निदान तथा उपचार स्पष्टतया वर्णित हैं।[2] तक्मन् (ज्वर) का तो विशेष वर्णन है[3] और परवर्ती आयुर्वेद ग्रन्थों ने ज्वर को ही समस्त रोगों में सम्राट रूप कहा है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से भी अथर्ववेद महत्त्वपूर्ण है। अन्य संहिताओं की अपेक्षा इस संहिता में सर्वाधिक अध्यात्मभावना दृष्टिगोचर होती है। अन्य काण्डों में प्राप्त सूक्तों तथा मन्त्रों के अतिरिक्त तेरहवें काण्ड के सारे (नौ) सूक्त ही अध्यात्म विषयक हैं। अथर्ववेद के सूक्ष्म एवं गम्भीर दार्शनिक सूक्तों से ही आरण्यकों एवं उपनिषदों का दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ, अतः अथर्ववेद वैदिक दर्शन का सर्वाधिक पुष्ट एवं प्रामाणिक स्रोत है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अथर्ववेद तथा यज्ञ के सम्बन्ध का निराकरण किया था। किन्तु यज्ञ के सम्पूर्ण निष्पादन हेतु जिन चार ऋत्विजों की अनिवार्यता होती है उनमें ब्रह्मा अन्यतम है और ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद से ही है। गोपथ ब्राह्मण ने ब्रह्मा का महत्त्वकथन करते हुए प्रकारान्तर से वस्तुतः अथर्ववेद की महत्ता का ही गान किया है—'तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ के एक पक्ष का ही संस्कार होता है। ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है।'[4] वेदपरम्परा में यह अथर्वसंहिता ही है जिसमें विरोधी तत्त्वों एवं गुणों का विचित्र सुन्दर समन्वय है। एक ओर गूढ अध्यात्म विद्या के मन्त्र हैं तो दूसरी ओर सम्मोहन, वशीकरण, मारण, स्वापन आदि के मन्त्र हैं। एक ओर यह दार्शनिक वेद है तो दूसरी ओर उसे स्त्रियों और शूद्रों का वेद माना गया है।[5] यह ब्रह्मवेद भी है और क्षत्रवेद भी। इन समस्त दृष्टियों से अथर्ववेद एक विश्वकोष जान पड़ता है।

■

---

1. जोशी खण्डेलवाल — वैदिक साहित्य की रूपरेखा — पृष्ठ 205
2. अथर्ववेद 1 / 12; 2 / 7; 2 / 32. 3 / 7; 4 / 37; 5 / 4; 5 / 15; 6 / 12; 7 / 74; 8 / 7; 9 / 8; 12/21; 19 / 38 — आदि तथा अन्य भी।
3. अथर्ववेद 1 / 25; 4 / 13; 5 / 22; 6 / 20; 19 / 39 आदि
4. गोपथ ब्राह्मण 3/12 — स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति।
5. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2 / 29 / 11 – 12 — सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च।
आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति।

4

ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्

वैदिक वांङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान एवं महत्त्व संहिताओं के समकक्ष ही है, उससे अल्पतर कदापि नहीं। क्रम की दृष्टि से भी ब्राह्मण ग्रन्थों को संहिताओं के तुरन्त बाद ही ग्रहण किया जाता है। प्रायः ही संहिता-मन्त्रभाग-तथा ब्राह्मण को सम्मिलित रूप में वेद नाम से पुकारा जाता है।[1] कृष्ण यजुर्वेद में तो संहिता और ब्राह्मण मिले हुए हैं, अलग हैं ही नहीं। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थ परस्पर नितान्त सम्बद्ध हैं, एक दूसरे से असम्पृक्त नहीं है। संहिताओं में जिस यज्ञ का विधान किया गया था, ब्राह्मण ग्रन्थों में उसी यज्ञविधान तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड की अत्यन्त विस्तृत आध्यात्मिक व्याख्या तथा वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की गई। संहिताओं ने जिन विधियों का अनुमोदन किया था; ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हीं विधियों की व्याख्याओं का संकलन है। दोनों ही प्रकार के ग्रन्थ ऋषियों की रचनाएँ हैं केवल प्राचीनता तथा नवीनता का भेद है।

ब्राह्मण शब्द पुल्लिंग है, किन्तु जब वह वेद भाग का सूचक होकर ग्रन्थ अर्थ में प्रयुक्त होता है तब नपुंसकलिंग हो जाता है। मेदिनी कोश में स्पष्ट कहा गया है—'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्'—अर्थात् वेदभाग का सूचक ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग में होता है। निरुक्त,अष्टाध्यायी तथा स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं।[2]

इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण ग्रन्थ क्यों पड़ा ? इस प्रश्न की मीमांसा में अनेक भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं—

1. ब्रह्मन् शब्द का एक अर्थ हैं 'मन्त्र'।[3] अतः जिनमें वैदिक मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई वे ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाए।

---

1. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र—24/1/31 – मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।
   बौधायन गृह्य सूत्र—2/6/3 – मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते।
2. निरुक्त 4/27; ऐतरेय ब्राह्मण 6/25 तथा 8/2; शतपथ ब्राह्मण 4/6/9/20; अष्आध्यायी 3/4/36; शांकर भाष्य (वेदान्त दर्शन) 1/3/33
3. शतपथ ब्राह्मण 7/1/1/5 ब्रह्म वै मन्त्रः

2. ब्रह्मन् शब्द का एक और अर्थ है 'यज्ञ'। विस्तार किए जाने के कारण यज्ञ को 'ब्रह्म' तथा 'वितान' भी कहा जाता है। यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या एवं सांगोपांग विवरण देना ही मुख्य प्रतिपाद्य होने के कारण ये ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में भट्ट भास्कर ने इसी अर्थ की पुष्टि की है।[1] वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्मण उन ग्रन्थों को कहा है जिनमें निर्वचन, मन्त्रों का विनियोग, प्रतिष्ठान (अर्थवाद) एवं विधि पाए जाएँ।[2]

3. ब्रह्मन् शब्द का अर्थ 'रहस्य' भी है। मन्त्रों के सम्पूर्ण रहस्य का व्याख्यापूर्वक उद्घाटन करने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

4. कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इन ग्रन्थों के लिए 'ब्राह्मण' शब्द के प्रयोग को इस प्रकार तर्कसंगत बनाया है कि याज्ञिक कृत्यों का सञ्चालन करने वाला पुरोहित वर्ग अनिवार्यतया ब्राह्मण ही होता था। ब्राह्मण जन ही यज्ञीय विधान और कर्मकाण्ड का निर्वाह करते थे। अतएव यज्ञ-यागादि के विधान का सम्पूर्ण परिचय देने वाले मन्त्र-व्याख्यात्मक ग्रन्थ ब्राह्मण वर्ण के नाम पर ही ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाए तथा हिन्दू धर्म के समस्त क्रियात्मक स्वरूप के आधारभूत ग्रन्थ बन गए।

5. पतञ्जलि ने भी 'ब्राह्मण' शब्द अर्थ समझाया है— 'ब्रह्मन् तथा ब्राह्मण शब्द समान अर्थ वाले होते हैं।'[3] पतञ्जलि की यह दृष्टि श्रौत तथा गृह्य सूत्रकारों के अनुकूल ही है जिन्होंने मन्त्र और ब्राह्मण को सम्मिलित रूप में 'वेद' संज्ञा प्रदान की थी।

उपर्युक्त सभी मतों का एकत्र सार यही है कि ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं में कथित अथवा प्रतिपादित यज्ञों का व्याख्यान करते हैं। डॉ. राममूर्ति शर्मा के शब्दों में "ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा करने वाले विश्वकोष हैं क्योंकि (1) इसमें यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयि संहिता) के अन्तर्गत वर्णित समस्त याज्ञिक कृत्यों का विवेचन है। (2) ये ग्रन्थ विभिन्न यज्ञीय कृत्यों के सम्बन्ध, विवेचन एवं मन्त्रों तथा प्रार्थनाओं के विनियोग के साथ-साथ विविध यज्ञों के सम्बन्ध में निर्देश देते हैं। (3) इन ग्रन्थों में याज्ञिक कृत्यों तथा उनके प्रार्थना मन्त्रों में परस्पर जो सम्बन्ध है, उसकी प्रतीकात्मक एवं विचारात्मक व्याख्या की गई है। (4) यदि किसी यज्ञीय कृत्य के सम्बन्ध में पुरोहितों का मतभेद है तो अन्य मतों के तर्कपूर्वक खण्डन के साथ एक मत का प्रतिपादन किया जाता है। (5) विभिन्न देशों और परिस्थितियों में जो सम्भाव्य रीति भेद है उसका उल्लेख भी इन ग्रन्थों में मिलता है। (6) यज्ञ में पुरोहित की क्या दक्षिणा होनी चाहिए, उसका उल्लेख भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। (7) ब्राह्मण ग्रन्थों में उन ऐहिक एवं आमुष्मिक लाभों का भी उल्लेख है जो यजमान को विभिन्न यज्ञीय कृत्यों के सम्पादन के फलस्वरूप मिलते हैं।"[4]

---

1. तैत्तिरीय संहिता 1/5/1 पर भाष्य में भट्ट भास्कर—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्रा च व्याख्यानग्रन्थः।
2. वाचस्पति मिश्र—नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
   प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥
3. महाभाष्य 5/1/1
4. शर्मा, राममूर्ति—वैदिक साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 96

ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य विषय—ब्राह्मण शब्द के विभिन्न अर्थों से ही स्पष्ट हो गया है कि ब्राह्मणों का प्रधान विषय विधि एवं विनियोग है। अन्य जितने भी विषय उपलब्ध होते हैं, वे उसी विधि एवं विनियोग के निर्वाहक एवं पोषक हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों के रूप में दस वस्तुओं का निर्देश करने वाला यह श्लोक प्रसिद्ध है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ॥[1]

इस दस वस्तुओं को इस प्रकार समझा जा सकता है। **हेतु** में कर्म काण्ड की किसी विशेष विधि के कारण की मीमांसा की जाती है। यज्ञ के विधिविधान के लिए उचित तथा योग्य कारण का कथन करना ही हेतु है। ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर शब्दों के **निर्वचन** का भी निर्देश किया गया है। निरुक्त में प्राप्त शब्द-व्युत्पत्तियों का मूल ब्राह्मणग्रन्थों में ही है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी इन निर्वचनों की वैज्ञानिकता एवं महत्त्व अक्षुण्ण है। विशिष्ट यज्ञों में कतिपय विशेष सामग्री परम उपयोगी होती है तथा विपरीत सामग्री का निषेध किया जाता है। इसी को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी वस्तु की **प्रशंसा** तथा निषिद्ध सामग्री की **निन्दा** ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित है। यह प्रशंसा तथा निन्दा मिल कर **अर्थवाद** में अन्तर्भूत हो जाते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में कई **संशय** वचन भी प्रयुक्त हुए हैं। उनमें से कई में मीमांसापूर्वक निश्चय की स्थिति आती है, कई में नहीं। यज्ञ तथा उसके विभिन्न अंगों एवं उपांगों के अनुष्ठान का उपदेश ही **विधि** है। ब्राह्मणग्रन्थ इन विधि विधानों की विशाल राशि उपस्थित करते हैं। **परक्रिया** तथा **पुराकल्प** शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। किन्तु राजशेखर ने इन दोनों को इतिहास का प्रभेद कहा है। यहाँ इन दोनों का समावेश उपाख्यान तथा आख्यान के अन्तर्गत किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में कतिपय अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक आख्यान प्राप्त होते हैं। ये आख्यान संक्षिप्त एवं दीर्घ दोनों प्रकार के हैं। प्रसंगानुकूल विधि की युक्तियुक्तता को प्रमाणित करने के लिए इन आख्यानों का कथन किया गया है। **व्यवधारणकल्पना** से विनियोग अर्थ ग्रहण किया जाता है। यज्ञ में किस मन्त्र का प्रयोग किस विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए है, इसी की युक्तिपूर्ण व्यवस्था विनियोग है। इस व्यवधारणकल्पना के द्वारा ही मन्त्रों के रहस्यपूर्ण अर्थ का पूर्ण उद्‌भेदन होता है। **उपमान** का अर्थ स्पष्ट ही है। दृष्टान्त के द्वारा वस्तु को समझाना ही उपमान है। इन दसों तत्त्वों में विधि ही ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्यतम प्रतिपाद्य है क्योंकि 'विधि ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर निरुक्ति, स्तुति, आख्यान तथा हेतुवचन आदि विविध विषय अपना आवर्तन पूरा किया करते हैं।'

ब्राह्मणग्रन्थों की विषयवस्तु रूप में वर्णित उपर्युक्त दस तत्त्वों का अन्तर्भाव विद्वज्जन तीन विभागों में भी करते हैं—

---

1. शाबर भाष्य—2/1/8
   आपस्तम्ब श्रौत सूत्र 24/1/33 – ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः निन्दा प्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च।

1 विधि—क्रियात्मक यज्ञीय काण्ड तथा तत्सम्बद्ध क्रियाकलाप के नियम विधि के अन्तर्गत आते हैं। नियम पालन से प्राप्त होने होने वाले फल का भी निरूपण इसी में होता है। इन विधियों का द्विविध स्वरूप होता है (i) अप्रवर्त प्रवर्तनम्—यज्ञ न करने वालों को यज्ञ करने के लिए प्रेरित करना तथा (ii) अज्ञात ज्ञापनम्-जो ज्ञात नहीं है उसका ज्ञान कराना। धर्म की दृष्टि से विधिवाक्य प्रमाण कहे गए हैं—'विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणम्'।

2 अर्थवाद—इस के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ आती हैं। यज्ञों का महत्त्व तथा तत्सम्बद्ध उपाख्यान, प्रशंसादि के द्वारा मन्त्रों का अर्थज्ञान कराना आदि समग्रतया अर्थवाद में परिगणित हो जाता है। ये प्ररोचनात्मक भाग ब्राह्मणग्रन्थों में इसीलिए सम्मिलित किए गए जिससे यज्ञों तथा यज्ञीय विधि के सम्यक् अनुपालन का महत्त्व जनमानस में गहरा पैठ जाए। इस अर्थवाद में यज्ञ से विविधफलप्राप्ति तथा यज्ञ न करने पर अथवा उचित विधि से न करने पर विविध विपत्तियों तथा बाधाओं आदि का विस्तृत वर्णन है।

3 उपनिषद्—ब्राह्मणग्रन्थों का किसी वस्तु विशेष से सम्बद्ध धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करने वाला भाग उपनिषद् के अन्तर्गत आता है। कालान्तर में यज्ञों के जिस आध्यात्मिक स्वरूप को ग्रहण करके आरण्यकों की रचना हुई, उसी आध्यात्मिक विवेचन का बीजरूप ब्राह्मणों के तत्त्वविचारात्मक भाग में उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का विषय मुख्यतया यज्ञीय कर्मकाण्ड होने पर भी बहुत ही वैविध्यपूर्ण रहा।

संहिता एवं ब्राह्मण—पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मन्त्र और ब्राह्मण के सम्मिलित रूप को एक ही नाम 'वेद' से भी अभिहित किया जाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि संहिता और ब्राह्मण एक दूसरे सेअत्यन्त सम्बद्ध हैं। किन्तु सम्बद्ध होने पर भी इन दोनों में अनेक दृष्टियों से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है जिसकी विवेचना यहां कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

1 अधिकांश संहिताएँ पद्यात्मक ही हैं अर्थात् छन्दोबद्ध हैं। केवल कृष्णयजुर्वेद गद्यात्मक है, तथा अथर्ववेद का का थोड़ा सा अंश गद्यात्मक है, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों की रचना केवल गद्य में ही की गई है। इस दृष्टि से संहिता एवं ब्राह्मण की रचना आकृति में भेद है।

2 संहिता का प्रतिपाद्य विषय प्रायः देवस्तुति है। ऋग्वेद में देवस्तुतियों का प्राधान्य है; अथर्ववेद में नानाविध इहलौकिक तथा पारलौकिक फल प्रदान करने वाले मन्त्र हैं; यजुर्वेद में विभिन्न इष्टियों—यागों का विस्तृत विवरण है। किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञीय कर्मकाण्ड के मन्त्रों के विनियोग की विधि सविस्तर वर्णित की गई है। यज्ञ कब हो, कैसे हो, किस रूप में किन साधनों से हो, यज्ञ का अधिकारी कौन है—इस समस्त योगप्रक्रिया को समझाने के लिए ही ब्राह्मणग्रन्थों का निर्माण हुआ। अतः संहिता एवं ब्राह्मण में विषय की दृष्टि से भेद है।

3 परस्पर भिन्न होकर भी वस्तुतः ब्राह्मणगन्थ संहिता पर आश्रित हैं। नितान्त मौलिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्रस्तुत करने पर भी ब्राह्मणगन्थ संहिता मन्त्रों के बिना आधारहीन हैं। संहिता मूल है और ब्राह्मण उसका व्याख्यान या भाष्य। यज्ञों में संहिता के मन्त्रपूर्वक हवि समर्पित की जाती है

किन्तु उसकी समस्त प्रक्रिया एवं उपयोगिता की व्याख्या तो ब्राह्मण ही करता है। इस दृष्टि से दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

परस्पर एक दूसरे के पूरक होने पर भी दोनों प्रकार के ग्रन्थों में पार्थक्य तो था ही। सम्भवतः इसी कारण लोक में 'वेद' संज्ञा क्रमशः केवल संहिता भाग के लिए ही रूढ़ होती गई। दोनों की पारस्परिक भिन्नता के आधार पर ही गृह्यसूत्रकार आश्वलायन ने ऋषि और आचार्य शब्दों के अर्थ में भेद किया था। तदनुसार मन्त्रद्रष्टा ऋषि है और ब्राह्मण द्रष्टा आचार्य है।

वर्गीकरण एवं परिचय—प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में परस्पर विशेष भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। सभी के उद्देश्य एवं प्रयोजन लगभग समान ही हैं। चारों वेदों से सम्बद्ध ब्राह्मण उन उन विशिष्ट ऋत्विजों तथा उनके कार्यों का प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ 'होता' तथा उसके कार्यों का, यजुर्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ 'अध्वर्यु' एवं उसके कार्यों का, सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ 'उद्गाता' एवं उसके कार्यों का तथा अथर्ववेदीय ब्राह्मण 'ब्रह्मा' एवं उसके कार्यों का सुचारु प्रतिपादन करते हैं।

ब्राह्मण साहित्य अत्यन्त विशाल है। इस साहित्य का बहुत कुछ अंश लुप्त हो गया है। किन्तु जितना ब्राह्मण साहित्य उपलब्ध है वह भी पर्याप्त विस्तृत है। अनेक ब्राह्मणग्रन्थों के अब नाममात्र ही प्राप्त होते हैं यद्यपि उनके विविध उद्धरण अन्य श्रौत ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या वेदानुसार इस प्रकार है—

ऋग्वेदीय ब्राह्मण—	ऐतरेय, शांखायन (कौषीतकी)
कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण—	तैत्तिरीय
शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण—	शतपथ
सामवेदीय ब्राह्मण—	ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, दैवत, मन्त्र (उपनिषद्), संहितोपनिषद्, वंश, जैमिनीय (तलवकार)
अथर्ववेदीय ब्राह्मण—	गोपथ।

डॉ. वटकृष्ण घोष ने अनुपलब्ध ब्राह्मणों के अन्यत्र प्राप्त उद्धरणों को एकत्र करके सोलह और ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।[1] उनके नाम इस प्रकार है—शाट्यायन, भाल्लवि, जैमिनीय, आह्वरक, कंकति, कालबवि, चरक, छागलेय, जाबालि, पैंगायनि, माषशरावि, मैत्रायणीय, रौरुकि, शैलालि, श्वेताश्वतर एवं हारिद्रविक। पण्डित भगवद्दतजी ने उपर्युक्त ब्राह्मणों के अतिरिक्त आठ ब्राह्मणों के नाम और दिए हैं[2] – काठक, खाण्डिकेय, औखेय, गालव, तुम्बरु, आरुणेय, सौलभ, तथा पराशर।

विभिन्न संहिताओं के उपलब्ध ब्राह्मणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

---

1. घोष, वटकृष्ण—Collection of Fragments of Last Brahmins, caleutta 1953
2. भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग 2 – पृष्ठ 26-34

ऋग्वेदीय ब्राह्मण

1 ऐतरेय ब्राह्मण—इसमें 40 अध्याय हैं तथा पाँच पाँच अध्यायों की 8 पंचिकाएँ हैं। प्रत्येक अध्याय में भिन्न-भिन्न कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण में 40 अध्याय, 8 पंचिकाएँ तथा 268 कण्डिकाएँ हैं। यह ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बद्ध है, अतः हौत्रकर्म के विशिष्ट कार्यकलापों का विशेष विवरण प्रस्तुत करता है। इसके रचयिता महीदास ऐतरेय माने जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की भाषा संहिता की भाषा से अधिक दूर नहीं है। लेखन शैली विशुद्ध ब्राह्मणोचित है। इस सम्पूर्ण ब्राह्मण की रचना में एक ऐसा साम्य तथा ऐक्य है कि अवान्तर प्रक्षेप की सम्भावना ही नहीं है। इस ब्राह्मण की प्रारम्भिक दो पंचिकाओं में समस्त सोमयागों के प्रकृतिरूप 'अग्निष्टोम' का विशेष विवरण है। तदनन्तर गवायमन, द्वादशाह, अग्निहोत्रादि वर्णित हैं। अष्टम पंचिका में 'ऐन्द्र महाभिषेक' एवं चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक का अत्यन्त रोचक वर्णन है। अन्तिम अध्याय में कुलपुरोहित के अधिकारों एवं धार्मिक तथा राजनीतिक महत्त्व का प्रतिपादन है। सप्तम पंचिका में राजसूय विषय के प्रसंग में शुनः शेप का आख्यान इस ब्राह्मण का सर्वाधिक चर्चित एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। यह सप्तम पंचिका के इकतीसवें से तैंतीसवें अध्याय तक प्राप्त होता है। राजा के द्वारा की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह कितना अनिवार्य है—यह आख्यान इसी तथ्य का सुन्दर निदर्शन है। 'चरैवेति चरैवेति' की सुन्दर, अभ्युदय सम्पन्न शिक्षा भी इसी प्रसंग में उपलब्ध होती है।

इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर गोविन्द स्वामी तथा सायण के प्रामाणिक भाष्य मिलते हैं।

2 शांखायन ब्राह्मण—यह भी ऋग्वेदीय ब्राह्मण है। इसको कौषीतकी ब्राह्मण भी कहा जाता है। इसमें 30 अध्याय तथा 226 खण्ड हैं। विषय की दृष्टि से यह ऐतरेय ब्राह्मण से अत्यधिक साम्य रखता है। किन्तु कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्यों का निर्देश इसमें प्राप्त होता है। इस युग की धार्मिक मान्यता में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला, क्योंकि विष्णु यज्ञरूप थे—'यज्ञो वै विष्णुः'। उदीच्य प्रान्त में संस्कृत का प्रशंसनीय प्रचार था। उस प्रान्त में संस्कृत ज्ञान प्राप्त किया हुआ मनुष्य समाज में सम्माननीय था।[1] गोत्र का प्रभाव एवं प्रचलन दृढ़ हो गया था क्योंकि ब्राह्मण को स्वगोत्रीय के साथ निवास का आदेश दिया गया है।[2]

इस ब्राह्मण ग्रन्थ का माधव के पुत्र विनायक पण्डित लिखित भाष्य प्रामाणिक माना जाता है।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण

3 तैत्तिरीय ब्राह्मण—कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं के पृथक् ब्राह्मण प्रायः नहीं हैं। काठक, कपिष्ठल-कठ तथा मैत्रायणी संहिताओं आदि में मन्त्र तथा ब्राह्मण एकत्र रूप में सम्मिश्रित हैं, पृथक

---

1. शांखायन ब्राह्मण 8/6 — उदंच एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते।
2. शांखायन ब्राह्मण 25/15 — ब्राह्मणे समानगोत्रे वसेत्, यत् समाने गोत्रेऽन्नाद्यं तस्योप्राप्त्यै।

नहीं । तैत्तरीय संहिता में भी ब्राह्मण सम्मिलित है । किन्तु यज्ञीय कुछ अनुक्त विषयों का कथन करने के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण की पृथक रूप में रचना हुई ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तीन काण्ड तथा बीस अध्याय (प्रपाठक) हैं । प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवायमन, वाजपेय, राजसूय आदि का वर्णन है । द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणि के पश्चात् वृहस्पति सव, सोम सव, अग्निष्ठुत् सव, इन्द्रस्तुत सव आदि नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है । तृतीय काण्ड की रचना परवर्तीकालीन मानी जाती है । इस काण्ड में मुख्यतया 'नक्षत्रेष्टि' का वर्णन है । इसी काण्ड के अन्तिम प्रपाठकों में नाचिकेत अग्नि तथा अग्निविद्या के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति का निर्देश है । इसी आख्यान का विकसित रूप कठोपनिषद् में प्राप्त होता है । यह ब्राह्मण स्वरांकित है । सायण और भास्कर ने इस पर प्रामाणिक भाष्यों की रचना की है ।

4 शतपथ ब्राह्मण—यह शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र ब्राह्मण है । शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं—माध्यन्दिन एवं काण्व—में यह उपलब्ध होता है, किन्तु दोनों शाखाओं के पाठ भिन्न-भिन्न है । विषय में तो कोई भिन्नता नहीं है किन्तु वर्णनक्रम और अध्यायों की संख्या दोनों पाठों में भिन्न है । माध्यन्दिन शाखा के ब्राह्मण में 14 काण्ड तथा 100 अध्याय हैं जिनमें प्रपाठक, ब्राह्मण तथा कण्डिकाओं के अवान्तर विभाग हैं । काण्व शाखा में 17 काण्ड तथा 104 अध्याय हैं जो ब्राह्मण तथा कण्डिका उपखण्डों में विभक्त हैं । काण्व शाखा में प्रपाठक नामक उपखण्ड नहीं है । शतपथ ब्राह्मण स्वरांकित रूप में उपलब्ध होता है । इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर सायण तथा हरिस्वामी ने प्रामाणिक भाष्य लिखे हैं ।

शतपथ ब्राह्मण समस्त ब्राह्मण साहित्य में सर्वाधिक विपुलकाय, प्राचीनतम, महत्त्वपूर्ण तथा यागानुष्ठान का सर्वोत्तम प्रतिपादक ग्रन्थ है । इस ब्राह्मण में दर्श-पौर्णमास इष्टियों, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, सोमयाग, वाजपेय तथा राजसूय याग, अग्नि रहस्य, शतरुद्रिय कर्म आदि का विस्तृत वर्णन है। सामान्यतः जो विषय ब्राह्मणग्रन्थों के प्रतिपाद्य नहीं माने जाते, ऐसे कतिपय विषयों—उपनयन[1], पंच महायज्ञ[2], और्ध्वदैहिक क्रियानुष्ठान, पुरुष मेध, सर्व मेध आदि—का विशद विवेचन शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम काण्ड चतुष्टय (11 से 14) में उपलब्ध होता है । शतपथ ब्राह्मण के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् है जो दार्शनिक तत्त्वज्ञान विवेचन में अप्रतिम माना जाता है ।

जैसा कहा जा चुका है, समस्त ब्राह्मणग्रन्थों में शतपथ ब्राह्मण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसकी भाषा एवं शैली सरल, सरस तथा प्रभावशाली है । यज्ञविद्या का सम्पूर्ण गौरव एवं वैभव इस ब्राह्मण ग्रन्थ में समुद्भासित हुआ है । यज्ञों के आध्यात्मिक रहस्य के पर्याप्त संकेत इसमें प्राप्त होते हैं । यज्ञीय कर्मकाण्ड भी सर्वाधिक इसी में प्रपंचित हुआ है । यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी

1. शपथ ब्राह्मण—11/3/3/2-दीर्घसत्रं एव उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।
2. शतपथ ब्राह्मण 11/5/6/7 – पंचैव महायज्ञाः । तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञः मनुष्ययज्ञः, पितृयज्ञो देवयज्ञ ब्रह्मयज्ञ इति ।

कि ब्राह्मणग्रन्थों के लिए निर्देश किए गए हेतु निर्वचन आदि दसों तत्त्व शतपथ ब्राह्मण में ही चरितार्थ होते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में जितने आख्यान-उपाख्यान वर्णित हैं, उनके आधार पर संस्कृत साहित्य में ही नहीं, अपितु अन्य भारतीय भाषाओं में भी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिक काव्य एवं नाटक रचे गए। जलप्लावन, मनु एवं मत्स्यावतार आख्यान, पुरुरवा-उर्वशी आख्यान तथा शकुन्तला आख्यान ऐसे ही प्रसंग है जो रोचक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण उपजीव्य गन्थ की कोटि में आ जाता है। शतपथ ब्राह्मण का भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व भी सुप्रतिष्ठित है। इसमें उन निर्वचनों का परिचय है जो यास्काचार्य के निरुक्त में प्राप्त व्युत्पत्तियों के आधार बने। इस ग्रन्थ से आर्यों के जीवन के विभिन्न उदात्त दृष्टिकोणों का भी परिज्ञान होता है। यह ग्रन्थ समाज में स्त्री के पुरुष-समकक्ष तथा महत्त्वपूर्ण स्थान का भली-भाँति दिग्दर्शन कराता है।[1] इन सारे विभिन्न महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों के कारण समग्र ब्राह्मण साहित्य में शतपथ ब्राह्मण की मूर्धन्यता स्वतः प्रमाणित है।

सामवेदीय ब्राह्मण

अन्य संहिताओं के ब्राह्मणों की अपेक्षा सामवेद के ब्राह्मणोंकी संख्या अधिक है। इन सभी में प्रधान ब्राह्मण ताण्ड्य है।

5 ताण्ड्य ब्राह्मण—यह ब्राह्मण सामदेव की तण्डि शाखा से सम्बद्ध है। अतः इसका नाम ताण्ड्य है। इसमें पच्चीस अध्याय हैं अतः इसे पंचविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है। अत्यन्त विशालकाय होने के कारण यह महाब्राह्मण तथा प्रौढ़ ब्राह्मण नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका मुख्य विषय सोमयाग का वर्णन है। एक दिन से लेकर सहस्त्र वर्षों तक चलने वाले यज्ञों का एकत्र प्रतिपादन इस ताण्ड्य ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। यज्ञानुष्ठान में औद्गात्र कर्म की विपुल एवं महनीय मीमांसा इसमें की गई है। इस ब्राह्मण में 'व्रात्य यज्ञ' प्राप्त होता है जो समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से नितरां महत्त्वपूर्ण है। आचार-विचार से हीन प्रवासी आर्यों को 'व्रात्य' नाम से पुकारा जाता था। व्रात्यों को आर्यों की श्रेणी में पुनः परिगणित करने की दृष्टि से अथवा आर्यों के समकक्ष स्थान देने की दृष्टि से ताण्ड्य ब्राह्मण के सत्रहवें अध्याय में प्रस्तुत व्रात्य यज्ञ की संघटना मननीय है।

6 षडविंश ब्राह्मण—इस ब्राह्मण का द्विविध विभाजन उपलब्ध होता है—(1) प्रपाठक तथा खण्ड, (2) अध्याय तथा खण्ड। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह पंचविश ब्राह्मण का परिशिष्ट जैसा जान पड़ता है। इसका अन्तिम पंचम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है, क्योंकि इसमें भूकम्प, अकाल में फल-पुष्प उत्पत्ति आदि विभिन्न प्रकार के उत्पातों की शान्ति का विधान है।

7. सामविधान ब्राह्मण—इस ब्राह्मण में तीन प्रकरण हैं जिनमें कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र व्रतों, तथा पुत्र, ऐश्वर्य एवं दीर्घायु की प्राप्ति के लिए साम गान तथा विविध अनुष्ठान वर्णित हैं। इस ब्राह्मण

---

1. शतपथ ब्राह्मण—5/1/6/10 – अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः।
   5/2/1/10 – अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जायेति।

का प्रतिपाद्य विषय अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा नितान्त भिन्न एवं विचित्र है। वस्तुतः यह ब्राह्मणग्रन्थ परवर्ती धर्मसूत्रों की पूर्व भूमिका प्रस्तुत करता है, क्योंकि विभिन्न दोष तथा पापाचरण और उनका प्रायश्चित्तविधान धर्मसूत्रों का विषय है।

8 **आर्षेय ब्राह्मण**—इस ब्राह्मण में 3 प्रपाठक तथा 82 खण्ड हैं। इस ग्रन्थ में साम के उद्भावक ऋषियों के नाम तथा संकेत प्राप्त होने के कारण यह सामवेद की आर्षानुक्रमणी का कार्य निष्पन्न करता है।

9 **दैवत अथवा देवताध्याय ब्राह्मण**—यह ब्राह्मण अत्यन्त ही लघुकाय है। इसमें तीन खण्ड हैं तथा 62 कण्डिकाएँ हैं। इसमें सामदेवताओं का वर्णन है। देवताओं की प्रशंसा में गेय विशिष्ट सामों का नामनिर्देश भी है। इस ब्राह्मण में छन्दों के देवता तथा वर्णों का विशिष्ट वर्णन है तथा छन्दों के निर्वचन भी दिए गए हैं जो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

10 **मन्त्रब्राह्मण**—इसे छान्दोग्य ब्राह्मण अथवा उपनिषद् ब्राह्मण भी कहा जाता है। इसमें दो ग्रन्थ सम्मिलित हैं। **(1) छान्दोग्य ब्राह्मण**—इसमें 2 प्रपाठक हैं तथा दोनों प्रपाठकों में 8-8 खण्ड हैं। इसका प्रतिपाद्य विषय विवाह, गर्भाधान, उपनयन, गोवृद्धि, भूतबलि, पितृपिण्डदान, नवगृहप्रवेश, स्वस्त्ययन आदि है। अतः यह ब्राह्मण गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का सुन्दर संग्रह रूप है। गुणविष्णु ने इस पर विस्तृत भाष्य लिखकर इन मन्त्रों के गूढ़ भावों को सर्वथा प्रगट कर दिया है। **(2) छान्दोग्य उपनिषद्**—यह मन्त्र ब्राह्मण का अन्तिम भाग है तथा इसमें 8 प्रपाठक हैं। उपनिषद् अध्याय में इसका वर्णन किया जाएगा।

11 **संहितोपनिषद् ब्राह्मण**—इसके 5 खण्ड पुनः सूत्रों में विभक्त हैं। इसका विशिष्ट महत्त्व सामगायन का विवरण प्रस्तुत करने में है।

12 **वंशब्राह्मण**—यह तीन खण्डों का लघुकाय ब्राह्मण है तथा इसमें सामदेव के गुरुओं की वंशपरम्परा का वर्णन है। इन्हें ही विद्यावंश कहा जाता है।

13 **जैमिनीय ब्राह्मण**—यह तलवकार ब्राह्मण नाम से भी प्रसिद्ध है। डॉ. रघुवीर एवं उनके पुत्र डॉ. लोकेश ने 1954 ई. में नागपुर से इस सम्पूर्ण ब्राह्मण का प्रकाशन कराया। उससे पूर्व यह आंशिक एवं अव्यवस्थित रूप में ही प्राप्त था। इस ग्रन्थ के अनेक खण्ड हैं। प्रथमतः यह तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 360 खण्ड, द्वितीय भाग में 437 खण्ड और तृतीय भाग में 385 खण्ड (कुल 1182 खण्ड) हैं। विशालता में शतपथ ब्राह्मण के लगभग समकक्ष यह जैमिनीय ब्राह्मण यागानुष्ठान के रहस्य को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। ऐतिहासिक उपाख्यान इसमें शतपथ ब्राह्मण से भी अधिक प्राप्त होते हैं। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण, जो गात्र्युपनिषद् नाम से भी प्रसिद्ध है, इसी जैमिनीय ब्राह्मण का एक अंश है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण—यह अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण है। इसके दो भाग हैं—**पूर्वभाग** या **पूर्वगोपथ** में 5 प्रपाठक या अध्याय हैं तथा **उत्तर भाग** अथवा **उत्तर गोपथ** में 6 प्रपाठक या अध्याय हैं। दोनों प्रपाठकों में कुल मिलाकर 258 कण्डिकाएँ हैं। इसके रचयिता गोपथ ऋषि हैं।

सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य में गोपथ ब्राह्मण सर्वाधिक अर्वाचीन माना जाता है। अथर्ववेद से सम्बद्ध होने के कारण इसमें अथर्ववेद की विपुल एवं विशेष प्रशंसा है। पूर्व गोपथ में ओंकार और गायत्री का महत्त्व, ब्रह्मचारी के नियम, यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्य एवं उनकी दीक्षा, संवत्सर सत्र, अश्वमेध, अग्निष्टोम आदि विषयों का वर्णन है। उत्तर गोपथ में विभिन्न यज्ञों तथा उनसे सम्बद्ध आख्यायिकाओं का वर्णन है। किन्तु उत्तर गोपथ का प्रतिपादन पूर्व गोपथ की भाँति सुव्यवस्थित नहीं है।

उपलब्ध ब्राह्मण साहित्य के इस संक्षिप्त वर्णन से उसकी विशालता एवं महत्ता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रसिद्ध आख्यान—विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक आख्यान एवं उपाख्यान प्राप्त होते हैं जिनका गुम्फन अथवा प्रणयन प्रायः विविध याज्ञिक विधियों की व्याख्या की दृष्टि से किया गया है। इनमें से कुछ कथाएँ किसी न किसी प्राचीन परम्परा पर आधारित हैं तथा अन्य कथाएँ ब्राह्मण कर्मकाण्डियों के द्वारा स्वयं आविष्कृत हैं। ये आख्यान रोचक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन में से कुछ आख्यान संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत हैं जिससे ब्राह्मण ग्रन्थों के विषयों की विविधता का स्पष्टीकरण हो सके।

जलप्रलय एवं मानवसृष्टि—यह आख्यान शतपथ ब्राह्मण[1] में प्राप्त होता है। प्रातःकाल उठ कर मनु मुँह धोने लगते हैं तो उस जल में एक मछली मनु के हाथ में आ गई। मछली ने मनु से अपने पालन करने की प्रार्थना की और आगामी जलप्लावन की चेतावनी देकर उससे मनु को बचा लेने का वचन दिया। मनु ने मछली का पालन किया और बड़ी हो जाने पर उसे समुद्र में डाल दिया। उस समय मछली ने कहा 'हे मनु ! शीघ्र ही जलप्रलय होगी। तुम एक नाव तैयार रखना, मैं तुम्हें पार कर दूँगी।' मछली की बताई तिथि पर मनु नाव बना कर बैठे। जलौघ उठने पर वही मछली उछलकर मनु के समीप आ गई। मनु ने उसके सींग में नाव का फन्दा डाल दिया और मछली नाव को लेकर उत्तर पर्वत की ओर दौड़ पड़ी। वहाँ मछली के आदेशानुसार मनु ने नाव एक वृक्ष सें बाँध दी। जैसे-जैसे प्रलय का जल कम होता गया, वैसे ही वैसे मनु भी पर्वत से नीचे उतरता आया। किन्तु जलौघ में सारी प्रजा नष्ट हो गई थी, केवल मनु ही बचा था। एकाकी तथा सन्तप्त मनु ने प्रजा की कामना से घी, दही, मंस्तु (दही का पानी) और आमिक्षा (दूध दही सम्मिश्रण) से जल में हवन किया। तब एक स्त्री इडा का जन्म हुआ। इसी के द्वारा पुनः मानव परम्परा प्रवर्तित हुई।

डॉ. सूर्यकान्त ने इस आख्यान के गूढ़ार्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "उपाख्यान का मूलभूम तत्त्व ठीक वही है जो कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का है। वहाँ भी आदि-पुरुष यज्ञ में अपने आपको स्वाहा करके अपने यज्ञ परिपूत अंशों से विश्व के विविध भूतों एवं पदार्थों की रचना करता है। या दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि परम पुरुष यज्ञके द्वाग अपने आपको इस विश्व

---

1. शतपथ ब्राह्मण—1/8/1/1...10

के रूप में परिवर्तित कर लेता है। ठीक यही बात शतपथ में मनु करते हैं। वे यज्ञ में अपने आपको स्वाहा न करके उसमें पोषणात्मक तत्त्व की आज्य डालते हैं जिससे इडा (= पोषक तत्व) नाम की लड़की पैदा होती है। इसी के साथ मिल कर मनु मानव युग का प्रवर्तन करते हैं।"[1]

जलप्रलय और मानव सृष्टि का यह आख्यान महाभारत तथा पुराणों में और अधिक विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। अन्य देशों की संस्कृति कथाओं में भी इसी प्रकार के जलप्रलय की कथा सर्वत्र प्रचलित है। शतपथ ब्राह्मण का यह आख्यान यज्ञ की सामर्थ्य और महत्ता का भली-भाँति उद्घाटन करता है।

शुनः शेप आख्यान—ऐतरेय ब्राह्मण की सातवीं पंचिका के तेरहवें से अठारवें अध्याय तक यह कथा प्राप्त होती है। निस्सन्तान राजा हरिश्चन्द्र ऋषि नारद से पुत्र के महत्त्व को जानकर पुत्र प्राप्ति का उपाय पूछता है। नारद पुत्र महत्त्व बता कर हरिश्चन्द्र को परामर्श देते हैं कि वरुण देव की प्रार्थना करने से पुत्र प्राप्त किया जा सकता है। हरिश्चन्द्र की प्रार्थना से प्रसन्न होकर वरुण उसे पुत्र प्राप्ति का वरदान देते हैं और हरिश्चन्द्र भी वचन देता है कि वह पुत्र के बलिदान से वरुण की पूजा करेगा। राजा के रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र स्नेह के कारण हरिश्चन्द्र पुत्र बलि से विरत होने लगा। रोहित युवक हो गया। वरुण के बार बार हठ करने पर राजा ने पुत्र का बलिदान करने का निश्चय किया। किन्तु भयभीत रोहित वन में भाग गया। निराश वरुण ने हरिश्चन्द्र को जलोदर का रोगी बना कर दण्डित किया। पिता के रोग और कारण को जान समझ कर रोहित ने घर लौटने का उपक्रम किया किन्तु ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने उसे रोक कर परिभ्रमण करते रहने का परामर्श दिया। इस प्रकार पाँच बार इन्द्र ने रोहित को घर नहीं लौटने दिया। छठे वर्ष भ्रमण करते हुए रोहित को क्षुधा से व्याकुल अजीगर्त ऋषि मिला। उसके तीन पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र पिता का प्रिय था और कनिष्ठ पुत्र माता का प्रिय था। अतः रोहित ने ब्राह्मण को सौ गाएँ देकर उसके मँझले पुत्र शुनः शेप को क्रय कर लिया। रोहित शुनः शेप को लेकर नगर आता है और अपने स्थान पर शुनः शेप को बलि देना प्रस्तावित करता है। वरुण यह स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ है। राजसूय यज्ञ में यज्ञपशु के स्थान पर शुनः शेप की बलि का आयोजन किया जाता है किन्तु कोई भी व्यक्ति शुनः शेप को यूप (बलिस्तम्भ) से बाँधने को तत्पर नहीं होता। तब अजीगर्त सौ और गाएँ लेकर पुत्र शुनः शेप को यूप से बाँध देता है। पुनः एक सौ गाएँ और लेकर वह पुत्र को बलि चढ़ाने को तत्पर होता है। यह देखकर दुखी शुनः शेप विभिन्न वैदिक देवताओं की स्तुति करता है। इन्द्र की कृपा से वह बन्धन मुक्त हो जाता है और हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग भी देवकृपा से दूर हो जाता है। उस राजसूय यज्ञ में हरिश्चन्द्र के होता पुरोहित विश्वामित्र थे। वे शुनः शेप को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करके उसे देवरात नाम देते हैं।

इस आख्यान का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। ऋग्वेद में एक शुनः शेप ऋषि है जिसने

---

1. सूर्यकान्त—संस्कृत वाड्मय का इतिहास-पृष्ठ 56

प्रथम तथा नवम मण्डल में सूक्त दर्शन किए हैं (ऋग्वेद 1/24...30, 9/3)। अतः इस आख्यान की प्राचीनता तो असन्दिग्ध है। द्वितीयतः इस आख्यान से इस तथ्य का संकेत भी ग्रहण होता है कि सम्भवतः कभी राजसूय यज्ञ में नरबलि की प्रथा का प्रचलन रहा हो, यद्यपि इसका एक भी पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। तृतीयतः इस आख्यान में "समस्त वैदिक देवशास्त्र का सार छिपा हुआ है। इस आख्यान में आए देवताओं का महत्त्व घटता चला गया, यहाँ तक कि अन्त में इन्द्र ही समस्त देवताओं का राजा बन गया।"[1] चतुर्थतः इस आख्यान का गद्य भाग भी छन्दों की सी लय एवं काव्यात्मकता से संश्लिष्ट है। इस आख्यान में ऋषि ने ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र से रोहित को जो निरन्तर भ्रमण का उपदेश दिलाया है उसमें भारतीय कर्मयोग का सम्पूर्ण सार तत्त्व निहित है। 'बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है। खड़े हुए का भाग्य ऊपर खड़ा होता है। सोने वाले का भाग्य सो जाता है, चलने वाले व्यक्ति का भाग्य चलता है अतः चलते ही रहो।' 'सोता हुआ मनुष्य कलि है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर, खड़ा हुआ त्रेता और चलता हुआ मनुष्य कृतयुग (सतयुग) हो जाता है अतः चलते ही रहो।' 'चलता हुआ (व्यक्ति) ही मधु प्राप्त करता है, चरणशील ही स्वादिष्ट उदुम्बर प्राप्त करता है, सूर्य के परिश्रम को देखो, जो चलने में कभी तन्द्रा (प्रमाद या आलस्य) नहीं करता, अतः चलते ही रहो।'[2] चरैवेति का यह मन्त्र मानव मात्र के कल्याण का उद्बोधक है। परिश्रम हीन को लक्ष्मी कभी प्राप्त नहीं होती—'नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति'।

पुरुरवा-उर्वशी आख्यान—यह आख्यान शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है। ऋग्वेद के पुरुरवा उर्वशी संवाद (10/95) में इस कथा का पूर्व रूप प्राप्त होता है। अप्सरा उर्वशी मनुष्य राजा पुरुरवा से प्रेम करती है किन्तु पुरुरवा की पत्नी बनने के लिए वह कुछ प्रतिबन्ध (शर्तें) रखती है। पुरुरवा मान जाता है। किन्तु गन्धर्वगण कपटपूर्वक राजा से एक शर्त भंग करा देते हैं। उर्वशी राजा को त्याग कर चली जाती है। प्रिया पत्नी के विरह से व्यथित राजा कुरुक्षेत्र में विलाप करता हुआ भटकता रहा। अन्ततः वह कमलों से सुशोभित एक सरोवर के पास पहुँचता है जहां अप्सराएँ हंसिनियों के रूप में तैर रही थीं। पुरुरवा के दुख से दयार्द्र होकर उर्वशी उससे वार्तालाप करती है और एक वर्ष के बाद केवल एक रात्रि के लिए मिलन का वचन देती है। वर्ष की अन्तिम रात्रि में दोनों का मिलन होता है। उर्वशी राजा से बताती है कि प्रातः काल गन्धर्व तुम्हें एक वर देंगे, उनसे तुम गन्धर्वत्व की याचना करना। राजा ने तदनुरूप ही गन्धर्वों से प्रार्थना की। तब गन्धर्वों ने राजा पुरुरवा को एक

---

1. सूर्यकान्त—संस्कृत वाङ्मय का इतिहास—पृष्ठ 53

2. ऐतरेय ब्राह्मण 33/3,4,5–आस्ते भग आसीनस्यौर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरँश्चरैवेति॥
चरन्वै मधु विन्दति चरन्त्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरँश्चरैवेति॥

विशिष्ट अग्निहोत्र की विधि सिखाई, जिससे एक मर्त्य भी गन्धर्व बन सकता है।

यह कथा तत्कालीन जीवन पद्धति में यज्ञ के महत्त्व का निर्धार तो करती ही है। साथ ही इस धारणा को भी पुष्ट करती है कि विशिष्ट यज्ञों के विधिवद् सम्पादन से मनुष्य दिव्य योनि प्राप्त करने में भी सक्षम है। वसिष्ठ विश्वामित्र आख्यान भी यही प्रतिपादित करता है जिसमें यज्ञाचरण से विश्वामित्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि उत्पत्ति के विषय में अनेक उपाख्यान प्राप्त होते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रजापति से सृष्टि उत्पन्न होने का वर्णन है। किन्तु सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी इन उपाख्यानों से कोई भी निश्चित धारणा अथवा सिद्धान्त स्थापित नहीं हो पाता।

कतिपय अन्य रोचक आख्यान संक्षेपतः इस प्रकार हैं।

वाक्-मनस् संवाद[1] – एक बार वाणी और मन में पारस्परिक श्रेष्ठता का विवाद हुआ। मन का कहना था कि 'मेरे द्वारा जाने हुए को ही वाणी बोलती है अतः मेरी अनुगामिनी है और मैं श्रेष्ठ हूँ।' वाणी विचारों को अभिव्यक्त करने के कारण स्वयं को श्रेष्ठतर सिद्ध करती थी। दोनों मिल कर निर्णय कराने के लिए प्रजापति के समीप गए। प्रजापति ने अनुगमनकर्त्री होने के कारण वाक् को मन से निम्न ठहराया। इस पर उद्विग्न वाक् ने प्रजापति से कहा कि 'मेरे विरुद्ध निर्णय देने के कारण मैं आपके लिए हवि नहीं धारण करुंगी।' इसी लिए यज्ञ में प्रजापति की आहुतियों के मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता, उन्हें केवल मन में पढ़ा जाता है।

प्रजापति का क नाम[2] – समस्त देवों की सृष्टि कर लेने के पश्चात् प्रजापति ने इन्द्र को उत्पन्न किया और उसे सभी देवों का अधिपति नियुक्त कर दिया। किन्तु जब इन्द्र देवों के समीप पहुँचा तो देवों ने स्वयं को ज्येष्ठ कहते हुए इन्द्र का आधिपत्य स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इन्द्र ने पुनः प्रजापति के पास जाकर उनका तेज माँगा जिससे वह अधिपति बन सके। प्रजापति ने पूछा कि तेज दे देने पर मैं क्या रह जाऊंगा? (कः स्याम)। इस पर इन्द्र ने उन्हें 'क' ही रह जाने को कहा। और तब से प्रजापति का नाम ही 'क' हो गया।

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में आए हुए 'क' (कस्मै देवाय हविषा विधेम) पद में प्रजापति अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही सम्भवतः इस कथा की कल्पना की गई।

रात्रि उत्पत्ति कथा—यह कथा मैत्रायणी ब्राह्मण में प्राप्त होती है। पहले सृष्टि में केवल दिन ही दिन था, रात्रि नहीं थी। यम के मर जाने पर उसकी भगिनी यमी बहुत दुखी हुई। देवताओं ने इस दुख को भुलाने के अनेक प्रयास किए किन्तु दुखित यमी पुनः पुनः यही कहती कि यम अभी अभी ही तो मरा है। तब देवताओं ने रात्रि उत्पन्न की। रात्रि के उपरान्त दूसरा दिन हुआ और तब यमी अपने दुख को भूल गई। इसी कारण यह कहा जाता है कि रात्रि और दिन दुखों को भुला देते हैं।

---

1. शतपथ ब्राह्मण—1/4/5/8...13
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण—2/2/10/1...

ऐसे अन्य अनेक उपाख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में भरे पड़े हैं जिन्हें अध्ययनशील विद्वानों ने 'मरुस्थल में सरोवर' का उपमान दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को धार्मिक कर्मकाण्ड और जटिल यज्ञीय विधियों का दुर्गम कान्तार कहा था, किन्तु इन आख्यानों की रोचकता, ऐतिहासिकता तथा महत्त्व को उन्होंने भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया।

ब्राह्मणों का महत्त्व—वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने प्रायः ही ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व को बहुत कम करके आँका है। सम्भवतः इस साहित्य की विशालता, विचार सरणि तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड की दुर्बोधता ही उनके इस विचार का आधार बनी। किन्तु आश्चर्य और खेद तब होता है जब अनेक भारतीय विद्वान् भी पाश्चात्यों के विचारों का पिष्टपेषण मात्र करते हुए ब्राह्मण साहित्य के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण को ले लें और या फिर यजुर्वेद के केवल शतपथ को ग्रहण करें अथवा सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण का ही अनुशीलन करें—ब्राह्मण ग्रन्थ के विविध वैभव से उनका महत्त्व स्वतः ही उद्घाटित हो जाता है। वर्तमान युग में भक्तिधारा के कारण धर्म का स्वरूप भिन्न प्रकार का हो गया है, किन्तु भारतीय धर्म के इतिहास में श्रौतविधानों, यज्ञीय कर्मकाण्ड तथा तत्सम्बद्ध सूक्ष्म क्रियाकलापों का एक सुन्दर युग भी था। उसी युग को ब्राह्मण ग्रन्थ अपने सम्पूर्ण गौरव एवं सौन्दर्य के साथ आज भी प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में समग्र यज्ञीय प्रक्रिया का सम्पूर्ण विकास एवं चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। यज्ञ में एक अग्नि के स्थान पर तीन पवित्र अग्नियाँ आवश्यक हो गई। निश्चित यज्ञभूमि पर विविध जटिल विधियों के साथ निश्चित आकार प्रकार की वेदियों का निर्माण किया जाता था। अपने अपने वेद के विशेषज्ञ चार पुरोहित यज्ञ कार्य सम्पन्न कराते थे। यजमान को केवल धनमात्र व्यय करना होता था। यज्ञ के जटिल अनुष्ठानों में एक भी त्रुटि रह जाना या हो जाना परम अमंगल का कारण माना जाने लगा। जो व्यक्ति यज्ञानुष्ठान करता था, वह समस्त पापों से छूट जाता था।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस धारणा को बद्धमूल किया कि यज्ञ के यथाविधि सम्पादित करने पर देवता भी वशीभूत हो जाते हैं, क्योंकि समस्त कर्मों में यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ था—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।[2] इस धारणा के कारण यज्ञों के समय और संख्या में आशातीत वृद्धि हो गई और अनेक वर्षों तक निरन्तर चलने वाले यज्ञों का विधान होने लगा। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों ने 'यज्ञ' को साधन के स्थान पर साध्य बना दिया। इस रूप में पौरोहित्य विज्ञान के छात्र के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ बहुत उपयोगी हैं।

यज्ञ की परम सत्ता के साथ-साथ संहिताकालीन देवताओं की पारस्परिक महत्ता में भी भिन्नता आ गई। ब्राह्मणकालीन युग तक आते-आते सृष्टिकर्ता प्रजापति का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गया—एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः। पालनकर्ता विष्णु भी परम देव हो गए। वस्तुतः

---

1. शतपथ ब्राह्मण 2/3/1/6 – सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।
2 शतपथ ब्राह्मण 7/1/1/5

ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ ही विभिन्न देवताओं के रूप में वर्णित हुआ है। यज्ञ ही वह शक्ति है जो प्रकृति की सम्पूर्ण सृजन एवं पालन शक्ति को आक्रान्त करती है और इस प्रकार यज्ञ का प्रजापति और विष्णु से तादात्म्य हो जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र का भी स्थान अत्यन्त उच्च हो गया। प्रजापति के दोष का दण्ड रुद्र उन्हें बाण से विद्ध करके देते हैं [1] और इस रूप में रुद्र अत्यन्त श्रेष्ठ देव सिद्ध होते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में जो दार्शनिक विचारधारा है वह संहिताओं और उपनिषदों के मध्यकालीन परिवर्तनशील तथा विकसित होती हुई विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। सृष्टि की उत्पत्ति के विभिन्न आख्यान, सृष्टि विज्ञान के अनेक उल्लेख तथा यज्ञ का आध्यात्मिक स्वरूप आदि सभी दर्शन की दृष्टि से महत्त्वशाली हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त विभिन्न आख्यानों, उपाख्यानों तथा उनके गूढ़ संकेतों का वर्णन किया ही जा चुका है।

ब्राह्मणग्रन्थों का सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं है। तत्कालीन भारतीय संस्कृति की सुन्दर झाँकी इस साहित्य में प्राप्त होती है। उस समय की सामाजिक अवस्था में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो गई थी। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को सम्बोधित करने अथवा आह्वान करने के तरीके भिन्न-भिन्न थे।[2] शूद्र वर्ण सामान्यतया ही धार्मिक अधिकारों से वंचित था। इन ग्रन्थों ने स्पष्ट कहा कि शूद्र देवहीन है और यज्ञ करने के योग्य नहीं है।[3] शूद्र से भाषण नहीं करना चाहिए।[4] शूद्र इच्छानुसार पीटे जाने योग्य है।[5] उस युग में वर्णव्यवस्था की सुदृढ़ता इससे स्पष्ट परिलक्षित होती है कि देवों को ही विभिन्न वर्णों में विभक्त कर दिया गया।[6] किन्तु फिर भी इस काल तक वर्णव्यवस्था का स्वरूप जटिल एवं रूढ़ नहीं हो पाया था। वंशपरम्परा की शुद्धि प्रशंसनीय अवश्य थी किन्तु निम्न वंश के व्यक्तियों के ब्राह्मण बन जाने के उदाहरण भी ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध हैं। कवष एलूश, वत्स तथा सत्यकाम जाबाल के उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि विद्वान् होने पर शूद्रापुत्र भी ऋषितुल्य हो जाता था। अन्य तीनों वर्णों की अपेक्षा समाज में ब्राह्मण का स्थान अधिक सम्माननीय था। यज्ञों की महत्ता के सिद्ध होने के साथ-साथ ब्राह्मणों का महत्त्व स्वतः स्थापित हुआ। यज्ञों का निर्वाहक पुरोहित वर्ग ब्राह्मण ही था अतएव श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करके वह 'मनुष्यदेव' ही हो गया।[7]

---

1 शतपथ ब्राह्मण 1/7/4/2 तद्वै देवानामाग आस.....तं रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध

2 शतपथ ब्राह्मण 1/1/4/12

3 ऐतरेय ब्राह्मण 5/12
ताण्ड्य ब्राह्मण 6/1/11–तस्माच्छूद्र उत बहुपशुरयाज्ञियो विदेवो....तस्मात्पादावनेज्यं—

4. शतपथ ब्राह्मण 3/1/1/10

5. ऐतरेय ब्राह्मण 35/3–(शूद्रः) अन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यः यथाकामवध्यः।

6. काणे, पी.वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड)–पृष्ठ 114

7. षडविंश ब्राह्मण 1/1–अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः

नैतिकता एवं सदाचरण पालन की दृष्टि से भी ब्राह्मण साहित्य का पर्याप्त महत्त्व है। असत्यभाषण अथवा अनृताचरण सबसे बड़ा पाप था। असत्य को वाणी का छिद्र माना गया। जैसे किसी छेद से वस्तुएँ गिर जाती हैं वैसे ही असत्यवादी की वाणी में से उसका सार गिर जाता है। असत्यवादी पुरुष अपवित्र होता है—'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति'। अतः सदैव सत्यभाषण ही करना चाहिए।[1] ब्राह्मणग्रन्थों ने अतिथिसत्कार और दान की महिमा का भी बहुविध वर्णन किया है।[2]

भाषा-शैली की दृष्टि से भी ब्राह्मणग्रन्थों का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि ब्राह्मणों की भाषा वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा को जोड़ने वाली सुन्दर कड़ी है। इसमें वैदिक तथा लौकिक शब्दावली का समन्वय है। लेट् लकार का प्रयोग वेदों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। दीर्घ समासों, क्लिष्ट पदों तथा अस्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग यथासम्भव नहीं किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों का गद्य नितान्त परिमार्जित, प्रसन्न एवं उदात्त है। शैली प्रवाह युक्त एवं रोचक है। इतिहास की सुदीर्घ परम्परा में प्राप्त अथवा यज्ञीय विधि की सविस्तर व्याख्या की दृष्टि से प्रस्तुत किए गए विभिन्न आख्यानों के प्रसंग में भाषा एवं शैली का साहित्यिक सौन्दर्य एवं रोचकता द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में ब्राह्मणग्रन्थों का योगदान एवं महत्त्व अनुपमेय है। संहिताओं को सरलतया समझाने के लिए व्याख्या रूप में रचे गए ये ग्रन्थ अपने महत्त्व के कारण ही स्वतन्त्र रूप में पठनीय एवं मननीय बन गए।

आरण्यक

वैदिक साहित्य के क्रम में ब्राह्मणग्रन्थों के बाद आरण्यकों का स्थान है। सामान्यतया आरण्यक एवं उपनिषद् अपनेअपने ब्राह्मणग्रन्थों के परिशिष्ट के समान ही जान पड़ते हैं, जिनमें ब्राह्मणग्रन्थों की विषय वस्तु से भिन्न विषयों का प्रतिपादन अथवा भिन्न व्याख्या ही दीख पड़ती है।

इन ग्रन्थों का नाम आरण्यक कैसे पड़ा, इस सम्बन्ध में सायण ने तैत्तिरीय तथा ऐतरेय आरण्यकों के भाष्य में अपना अभिमत प्रकट किया है 'अरण्य में अध्ययन किए जाने के कारण इन्हें आरण्यक कहा जाता है।'[3] इससे स्पष्ट है कि आरण्यकों का निर्माण एवं अध्ययन वन प्रदेश के शान्त वातावरण में हुआ। ये ग्रन्थ उन व्यक्तियों के लिये थे जिन्होंने गृहस्थ जीवन से निवृत्त होकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया था। वे वानप्रस्थी घर एवं नगर के कोलाहलमय वातावरण से दूर शान्त वनों में रहकर मनन, चिन्तन, जप, तप, स्वाध्याय तथा अनेक धार्मिक कार्यों में लगे रहते थे।

आरण्यक का एक और नाम 'रहस्य' भी है।[4] इस विशिष्ट नामकरण के दो हेतु परिलक्षित

---

1 ऐतरेय ब्राह्मण 1/6- सत्यसंहिता वै देवाः

2 ऐतरेय ब्राह्मण 1/3; 5/5

3 तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य—श्लोक 6—अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥

4 गोपथ ब्राह्मण 2/10; बौधायन धर्मसूत्र भाष्य 2/8/3

होते हैं। एक तो आरण्यकों में यज्ञ के गूढ रहस्य का प्रतिपादन और कर्म काण्ड की दार्शनिक व्याख्या है अतः ये 'रहस्य' ग्रन्थ हैं। दूसरे, इन ग्रन्थों में ब्रह्मविद्या जैसी रहस्यपूर्ण विद्या का वर्णन एवं विवेचन प्राप्त है। ब्रह्मविद्या का नामान्तर रहस्य भी है अतः आरण्यकों में ब्रह्मविद्या की सत्ता के कारण इन्हें 'रहस्य' कहा गया। यहीं कारण था कि अदीक्षितों के लिए आरण्यकों का ज्ञान अप्रदेय तथा हानिकारक माना जाता था।

विषय वस्तु—आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणों के अन्तिम अंशरूप और उपनिषदों के पूर्व अंश रूप हैं। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ एवं आरण्यक ग्रन्थ परस्पर सम्बद्ध हैं तथा ज्ञान काण्ड की दृष्टि से आरण्यक एवं उपनिषद् परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार ये आरण्यक ग्रन्थ कर्म और ज्ञान मार्ग का समन्वय करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों के कर्मकाण्ड का विशद विवेचन किया गया था। आरण्यकों में उस यज्ञविद्या के आध्यात्मिक स्वरूप का उद्घाटन किया गया। ब्राह्मणग्रन्थों में सभी प्रकार के यज्ञों का वर्णन होने पर भी प्रमुखतया गृहस्थ यज्ञों का विवरण प्राप्त होता है। आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम के उपयुक्त विभिन्न यज्ञों, होत्रादि कर्मों तथा महाव्रतों की विधियाँ और व्याख्याएँ दी गई हैं। याज्ञिक रहस्यों की यथार्थ मीमांसा इन्हीं ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आरण्यकों के अनुसार यज्ञ ही विश्वनियन्ता है; यज्ञ चराचर के लिए कल्याणवाही है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण विश्व की यज्ञमय है। यज्ञ की व्याख्या ब्रह्म की व्याख्या है अतः यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। इस याज्ञिक गूढ़ार्थभेदन के साथ साथ आरण्यकों में आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि से सम्बद्ध तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भ भी प्राप्त होता है जो उपनिषदों के दार्शनिक विवेचन की पृष्ठभूमि बना। इसीलिए प्राचीन उपनिषद् आरण्यकों के ही अंश तथा अंगरूप में आज भी उपलब्ध होते हैं।

आरण्यकों का एक और विशिष्ट विषय है—प्राणविद्या के महत्त्व का निरूपण। प्राणविद्या का जैसा विशद और विशिष्ट विवेचन आरण्यकों ने प्रस्तुत किया है, वह विश्वसाहित्य में भी दुर्लभ है। प्राणविद्या सम्बन्धी अपने विचारों की पुष्टि के लिए आरण्यकों ने ऋग्वेद के मन्त्रों को उद्धृत किया है। आरण्यकों में उल्लिखित विचारों के अनुसार प्राण इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। सब इन्द्रियों पर प्राण की श्रेष्ठता स्थापित है। प्राण ही आयु का कारण है। यही प्राण विश्व को धारण करता है और विश्व का रक्षक है। अन्तरिक्ष और वायु प्राण की ही सन्तान हैं। संचरणशीलता एवं शब्दश्रवणशीलता के द्वारा अन्तरिक्ष अपने पिता प्राण की परिचर्या करता है, और पुण्यगन्ध प्रवाह से प्राणों को तृप्त करने वाला वायु भी पिताप्राण की सेवा किया करता है। प्राण ही देवात्मक है, प्राण ही दिन एवं रात्रि के रूप में कालात्मक है तथा प्राण ही ऋषिरूप है। अतः प्राण के विभिन्न रूपों को भली प्रकार समझना चाहिए एवं प्राण की उपासना करनी चाहिए।

इस समग्र विवेचन से स्पष्ट है कि आरण्यकों में यज्ञ का दार्शनिक स्वरूप, आत्मविवेचन, तत्त्वमीमांसा, ज्ञान, कर्म और उपासना का समन्वय, वर्णाश्रम धर्म, तथा प्राणविद्या आदि का वर्णन है।

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ संख्या में बहुत अधिक होने पर भी वर्तमान युग में कम ही उपलब्ध हैं; उसी प्रकार आरण्यक भी अनेक रचे गए। किन्तु सम्प्रति प्रत्येक वेद से सम्बद्ध एक-एक, दो-दो आरण्यक ही प्राप्त होते हैं। विभिन्न संहिताओं के उपलब्ध आरण्यकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

ऋग्वेदीय आरण्यक—ऋग्वेद के दो आरण्यक प्राप्त होते हैं—

1. ऐतरेय आरण्यक—यह ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है। इसके पाँच विभाग हैं जो आरण्यक कहलाते हैं। पाँचों आरण्यकों में कुल मिलाकर 18 अध्याय हैं और ये अध्याय पुनः खण्डों में विभाजित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता ऐतरेय ऋषि ही प्रथम तीन आरण्यकों के रचयिता है; चतुर्थ आरण्यक आश्वलायन द्वारा तथा पंचम आरण्यक शौनक ऋषि के द्वारा रचित माना जाता है। इस आरण्यक में महाव्रत, उक्थ, निष्कैवल्य, प्राणविद्या, संहिता के भेदों आदि का वर्णन है। ऐतरेय उपनिषद् इसी का अंश रुप है।

2. शांखायन आरण्यक—इस आरण्यक में 15 अध्याय हैं जो पुनः 137 खण्डों में विभक्त हैं। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह ऐतरेय आरण्यक के सदृश ही है। शांखायन आरण्यक के तीन से छह तक के अध्यायों को कौषीतकी उपनिषद् कहा जाता है। इस आरण्यक के अन्त में विद्यावंश प्राप्त होता है।

यजुर्वेदीय आरण्यक—कृष्ण यजुर्वेद के दो आरण्यक प्राप्त होते हैं।

1 तैत्तिरीय आरण्यक—इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं जिन्हें 'अरण' भी कहा जाता है। ये पुनः 170 अनुवाकों में विभक्त हैं। इस आरण्यक में अग्नि उपासना, इष्टिका चयन, स्वाध्याय, पंचमहायज्ञ, प्रवर्ग्य, पितृमेध तथा ब्रह्मविद्या आदि का वर्णन है। तैत्तिरीय आरण्यक पर सायण तथा भट्ट भास्कर के भाष्य प्रसिद्ध हैं। इसी आरण्यक का सातवाँ, आठवाँ तथा नवाँ प्रपाठक सम्मिलित रुप में तैत्तिरीयोपनिषद् कहलाता है। दशम प्रपाठक खिल माना जाता है। और नारायणीयोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है।

2 मैत्रायणीय आरण्यक—यह मैत्रायणीय उपनिषद् अथवा मैत्र्युपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में सात प्रपाठक हैं जो पुनः 73 खण्डों में विभक्त हैं। पण्डित भगवद्दत्त के अनुसार इसका एक प्राचीन नाम चरक बृहदारण्यक भी था।[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ में मुख्यतः आत्मविद्या का ही प्रतिपादन किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद का एक ही आरण्यक है—बृहदारण्यक। शतपथ ब्राह्मण की दोनों शाखाओं—माध्यन्दिन तथा काण्व—के अन्तिम 6 अध्यायों के रूप में यह ग्रन्थ प्राप्त होता है। किन्तु स्वरूप की दृष्टि से यह आरण्यक नहीं वरन् उपनिषद् है। प्रथम अध्याय के प्रारम्भिक दो ब्राह्मणों मात्र में अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी वर्णन है; शेष ग्रन्थ में आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मविद्या की ही विशिष्ट मीमांसा की गई है। इसी कारण इसका नाम भी बृहदारण्यकोपनिषद् है। उपनिषदों में यह प्राचीनतम एवं सर्वाधिक मान्य है। शंकराचार्य ने जिन 11 उपनिषदों पर भाष्य लिखा था, उनमें से यह भी एक है।

सामवेदीय आरण्यक—इसके दो आरण्यक प्राप्त होते हैं।

1 तलवकार (तवलकार) आरण्यक—इसी को जैमिनीयोपनिषत् ब्राह्मण भी कहा जाता

---

1. भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 238

है क्योंकि इसमें ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् परस्पर मिले हुऐ हैं। इसमें चार अध्याय हैं जो पुनः 145 खण्डों में विभक्त हैं। इसके चतुर्थ अध्याय का दशम अनुवाक् प्रसिद्ध केनोपनिषद् अथवा तवलकार उपनिषद् है ! इस ग्रन्थ के अन्त में एक विद्यावंश प्राप्त होता है जिसमें सामवेदीय आचार्यों में विमाण्डक, ऋष्य शृंग आदि महत्वपूर्ण नाम मिलते हैं।

2 छान्दोग्य आरण्यक—इसका प्रकाशन श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद आरण्यक संहिता नाम से प्रकाशित कराया था। छान्दोग्य उपनिषद् का प्रथम अध्याय छान्दोग्यारण्यक कहलाता है। इसमें धार्मिक दृष्टिकोणपूर्वक 'सामन्' और 'उद्गीथ' का अर्थ किया गया हैं।

अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

उपनिषद्

आरण्यक ग्रन्थों में जिस आध्यात्मिक जिज्ञासा, मनन, चिन्तन तथा स्वानुभूति की प्रक्रिया का क्रमशः स्फुरण हुआ था, उसी का परिपक्व एवं सुव्यवस्थित रूप उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उपनिषद् शब्द के निर्वचन से ही उसका वास्तविक अर्थ प्रगट हो जाता है। यह शब्द उप + नि + सद् + क्विप्—इस रूप में निष्पन्न होता है। सद्लृ धातु के तीन अर्थ होते हैं। (सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु)। विशरण का अर्थ है नाश होना; गति का अर्थ है प्राप्त होना, जानना; अवसादन का अर्थ है शिथिल होना। इन्हीं तीनों अर्थों को ग्रहण करके आदि शंकराचार्य ने उपनिषद् शब्द का अर्थ प्रस्तुत किया था [1] – 'जिससे संसार की बीजभूत अविद्या नष्ट होती है, जिससे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है तथा जिससे मनुष्य के गर्भवास आदि दुख शिथिल हो जाते हैं, वह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है।' इस ब्रह्म विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ भी गौण अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द से ग्रहण कर लिए जाते हैं। उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति एक और रूप में भी प्रचलित है जिसमें उपनिषद् शब्द के उप तथा नि उपसर्गों के अर्थ को मुख्यतया ग्रहण किया जाता है। तदनुकूल उपनिषद् शब्द का अर्थ है (गुरु के) निकट विनम्रता पूर्वक बैठना (रहस्य ज्ञान के लिए)। उपर्युक्त समस्त अर्थों को यदि एकत्र रूप में ग्रहण किया जाए, तो उपनिषद् शब्द की परिषाभा कुछ इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—गुरु के समीप नम्रतापूर्वक बैठकर आत्मा को ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित करने वाला स्थिर ज्ञान प्राप्त करना ही उपनिषद् है। ब्रह्म से सम्बन्धित होने के कारण यह **ब्रह्मविद्या** है। उपनिषदों में वेदों के सारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, एवं ये वेद के अन्तिम अंश है; अतएव उपनिषद् **वेदान्त** नाम से भी अभिहित होते हैं।

सम्पूर्ण भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्मसिद्धान्तों के मूलस्रोत उपनिषद् ही हैं। प्रस्थानत्रयी के मुख्य ग्रन्थ भी उपनिषद् ही हैं क्योंकि अन्य दो—गीता एवं ब्रह्मसूत्र तत्त्वग्रहण की दृष्टि से उपनिषदों पर ही आधारित हैं। भारतीय संस्कृति एवं उपनिषद् का परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है; क्योंकि उपनिषदों का सम्यक् अध्ययन करने से ही भारतीय संस्कृति के अध्यात्ममयस्वरूप का तात्त्विक उद्घाटन हो पाता है। समस्त भारतीय दर्शन उपनिषदों के चिरऋणी हैं; क्योंकि भारतीय षड्दर्शन

---

1 कठोपनिषद् पर शांकर भाष्य में प्रारम्भिक सम्बन्ध भाष्य

के मूल आधार तो ये उपनिषद् हैं ही, साथ ही बौद्ध एवं जैन दर्शनों के मौलिक तथ्य भी उपनिषदों में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों का दार्शनिक विवेचन परस्पर विरोधी विविध गुणों का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करता है। प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग, प्रेय एवं श्रेय, अविद्या एवं विद्या, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग तथा ज्ञानमार्ग, अद्वैत तथा द्वैत, एकत्व तथा अनेकत्व, सम्भूति एवं असम्भूति आदि सिद्धान्तों में उपनिषदों ने अद्भुत सामंजस्य की स्थापना की है।

उपनिषदों की संख्या निर्धारण में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है तथा इन सभी को किसी-न-किसी वेद से सम्बद्ध बताया गया है; किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उस उपनिषद् में उस वेद से सम्बद्ध विषय ही वर्णित हो। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषद् संक्षेप में इस प्रकार हैं—ऋग्वेदीय—ऐतरेय, कौषीतकी आदि 10 उपनिषद्। कृष्ण यजुर्वेदीय—कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर आदि 32 उपनिषद्। यजुर्वेदीय—ईश, वृहदारण्यक आदि 19 उपनिषद्। सामवेदीय—केन, छान्दोग्य, मैत्रायणीय आदि 16 उपनिषद्। अथर्ववेदीय—प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य आदि 31 उपनिषद्। कतिपय सुधी आलोचकों के अनुसार 108 उपनिषदों को विषयानुसार छह भागों में विभाजित किया जा सकता है।[1] (1) वेदान्त के सिद्धान्तों पर निर्भर-24 उपनिषद् (2) योग के सिद्धान्तों पर निर्भर-20 उपनिषद्। (3) सांख्य के सिद्धान्तों पर निर्भर-17 उपनिषद्। (4) वैष्णव सिद्धान्तों पर निर्भर-14 उपनिषद्। (5) शैव सिद्धान्तों पर निर्भर-15 उपनिषद्। (6) शाक्त तथा अन्य सिद्धान्तों पर निर्भर-18 उपनिषद्।

उपनिषदों की संख्या इतनी अधिक मानी जाने पर भी आद्य शंकराचार्य ने जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा था, उन उपनिषदों को ही प्राचीनतम एवं प्रामाणिक माना जाता है। ये दस उपनिषद् हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद्।[2] शंकराचार्य ने उपर्युक्त दस उपनिषदों पर तो भाष्य लिखा; साथ ही ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कौषीतकी एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों का भी उल्लेख किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् पर जो शांकर भाष्य प्राप्त होता है, वह आद्य शंकराचार्य का लिखा नहीं माना जाता है। सैद्धान्तिक तत्त्वविवेचन की दृष्टि से मैत्रायणीय उपनिषद् भी उपर्युक्त बारह उपनिषदों के समान ही प्राचीन माना जाता है। इस प्रकार ये ही तेरह उपनिषद् वेदान्त तत्त्व के प्रतिपादक होने के कारण प्राचीन, प्रामाणिक एवं विशेष श्रद्धापात्र माने जाते हैं। इन्हीं तेरह उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

ईश उपनिषद्—यह शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का अन्तिम-चालीसवाँ-अध्याय है। यह अत्यन्त लघुकाय उपनिषद् है जिसमें केवल 18 मन्त्र ही हैं। प्रथम मन्त्र के प्रारम्भिक पदों (ईशावास्यमिदं) के आधार पर इस उपनिषद् का यह नामकरण हुआ। यह उपनिषद् सर्वप्राचीन है

---

1 द्रष्टव्य—वरदाचार्य—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 42

2 ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपनिषद् संहिता के अंशरूप में उपलब्ध नहीं होता।

ईशोपनिषद् को अद्वैतवाद का मूल स्रोत कहा जा सकता है। परम ब्रह्म की असीम सत्ता एवं व्यापकता का इस उपनिषद् ने सुन्दर वर्णन किया है। आत्मिक कल्याण के लिए ज्ञान एवं कर्म दोनों का प्रतिपादन करते हुए निष्काम कर्म का मूल मन्त्र इसी उपनिषद् ने दिया है। किसी के धन का लोभ न करने तथा त्यागपूर्वक भोग करने का हितकारक उपदेश इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही प्राप्त होता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचिद् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

इस श्लोक की उदात्त भावना से उच्छ्वसित होकर महात्मा गान्धी ने लिखा था कि 'यदि अचानक सारे उपनिषद् तथा धार्मिक ग्रन्थ जल कर राख हो जाएँ और केवल ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र हिन्दुस्तान को भली प्रकार याद रहे, तो भी हिन्दू धर्म सदैव जीवित रहेगा।'[1]

केन उपनिषद्—यह सामवेदीय तवलकार आरण्यक के चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक् के प्रथम चार खण्डों में समाहित है। अपनी शाखा के नाम के आधार पर यह तवलकार उपनिषद् कहलाता है तथा अपने प्रारम्भिक पद (केनेषितं पतति) के कारण केन उपनिषद् नामकरण हुआ। इसके चार खण्डों के दो पृथक् भाग जान पड़ते हैं। प्रथम दो खण्डों में दो एक मन्त्रों को छोड़कर शेष पद्यमय हैं; किन्तु अन्तिम दो खण्ड सर्वथा गद्यमय हैं। यह गद्यात्मक भाग ही अपेक्षाकृत प्राचीन माना गया है।

इस उपनिषद् में इन्द्रियों के विषय से परे तथा ज्ञान की सीमा से भी परे ब्रह्म की महिमा का वर्णन है। 'इस ब्रह्म तक नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता...वह विदित से अन्य है तथा अविदित से भी परे है।'[2] इस उपनिषद् में हैमवती उमा का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। यही हैमवती उमा देवों को ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप तथा सर्व शक्तिमत्ता का उपदेश देती है।

कठ उपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा का उपनिषद् है और अपनी शाखा के नाम ही प्रसिद्ध है। इसमें दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक में तीन-तीन वल्ली हैं। "दूसरा अध्याय योग सम्बन्धी विकसित विचारों तथा भौतिक पदार्थों की असत्यता सम्बन्धी विचारों के कारण परवर्ती सन्निवेश जैसा प्रतीत होता है।"[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में नचिकेता का जो उपाख्यान वर्णित है, उसी कथा से यह उपनिषद् प्रारम्भ होता है। वाजश्रवा मुनि ने विश्वजित् यज्ञ किया तथा सर्वस्व दान दिया। बूढ़ी और दुग्धहीन गायों को भी दान में दिया जाता देखकर पुत्र नचिकेता के मन में श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) का आवेश हुआ, और उसने पिता को इस दुष्कार्य से रोका। क्रुद्ध होकर पिता ने

---

1 'यंग इण्डिया' समाचार पत्र, 11 अक्टूबर 1923

2 केन उपनिषद् 1/3–न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो—तद्विदिताथतो अविदितादधि।—

3 मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद)—प्रथम भाग—पृष्ठ 216

पुत्र को यमराज को दे दिया। पिता के वचन की रक्षा के लिए नचिकेता यमालय पहुँचा और वहाँ यमराज की अनुपस्थिति के कारण तीन दिन भूखा ही रहा। लौटने पर यम ने नचिकेता से तीन वरदान माँगने को कहा। दो वरदान इच्छानुसार प्राप्त करके नचिकेता ने तृतीय वर में आत्मतत्त्व का ज्ञान माँगा। यम द्वारा अनेक प्रलोभन दिए जाने पर भी नचिकेता अपने प्रश्न पर दृढ़ रहा। प्रसन्न यमराज ने ब्रह्मविद्या का समस्त ज्ञान नचिकेता को दे दिया।

आत्म तत्त्व विवचेन की दृष्टि से कठोपनिषद् अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। श्रेय तथा प्रेय का विवेचन तथा श्रेय की उत्कृष्टता को यम अत्यन्त मार्मिक रूप में समझाते हैं।[1] आत्मतत्त्व का निरूपण सुनना भी कठिन है और समझना भी कठिन है।[2] अणु से भी छोटी तथा महान् से भी बड़ी वह आत्मा जीव की हृदय रूपी गुहा में स्थित होती है।[3] सम्पूर्ण भूतों में स्थित होने पर भी अप्रकाशित आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से ही देखी जाती है।[4] उपनिषद् के अन्त में योगके द्वारा ही परमनिःश्रेयस् की प्राप्ति-भावना कही गई है।

कठोपनिषद् के आत्मतत्त्व विवेचन के प्रसंग में आए हुए अनेक श्लोकों की स्पष्ट छाया भगवद्गीता के श्लोकों में प्रतिबिम्बित हुई है।

प्रश्न उपनिषद्—यह अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध है तथा सम्पूर्णतः गद्यमय है। पिप्पलाद ऋषि अपने छह शिष्य ऋषियों द्वारा पूछे गए अध्यात्म विषयक प्रश्नों का समुचित उत्तर देते हैं। इन प्रश्नों के कारण ही इस उपनिषद् का यह नाम पड़ा। छह शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

कबन्धी कात्यायन, भार्गव वैदर्भि, कौसल्य आश्वलायन, सौर्य्यायणी गार्ग्य, शैव्य सत्यकाम एवं सुकेशा भारद्वाज। पूछे गए प्रश्न ये हैं—(1) प्रजाओं की उत्पत्ति; (2) प्रजा का धारक देव एवं सर्वश्रेष्ठता; (3) प्राण की उत्पत्ति; (4) स्वप्न, सुषुप्ति तथा जीवात्मा परमात्मा भेद; (5) ओंकार (प्रणव) की उपासना; (6) जीवात्मा के षोडश अवयव अथवा षोडश कला पुरुष। इन प्रश्नों के उत्तर में समस्त अध्यात्मवाद का सार ही प्रस्तुत कर दिया गया है।

मुण्डक उपनिषद्—यह अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध उपनिषद् है। इसमें तीन मुण्डक हैं तथा प्रत्येक के दो दो खण्ड हैं। वेदान्त के प्राचीन सिद्धान्तों का प्रामाणिक एवं विशुद्ध विवरण इस उपनिषद् में प्राप्त होता है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा अपने पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं। इसमें परा-अपरा विद्या का स्वरूप, अक्षर ब्रह्म में विश्व की कारण रूपता, यज्ञ रूपी

---

1 कठोपनिषद्—1/2/1—-5

2 कठोपनिषद् 1/2/7—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

3 कठोपनिषद् 1/2/20—अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

4 कठोपनिषद् 1/3/12—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

नाव की निस्सारता, ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म एवं जगत् का अभेद, ब्रह्म को जानने के साधन आदि का सुन्दर विवेचन है। इसी उपनिषद् में काव्य दृष्टि से मनोहर किन्तु गूढ़ार्थ सम्पन्न वह ऋग्वेदीय श्लोक भी है जिसमें एक ही वृक्ष पर बैठने वाले दो पक्षियों से ईश्वर एवं जीव का रूपक बाँधा गया है।[1]

माण्डूक्य उपनिषद्—यह भी अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध है। यह उपनिषद् अत्यन्त लघुकाय होने पर भी ओंकार की मार्मिक व्याख्या करने के कारण सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यन्त महनीय है। इसमें केवल 12 लघु गद्यखण्ड अथवा वाक्य हैं। परमात्मा के समग्र रूप की अवधारणा के हेतु ब्रह्म के चार पादों—वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ तथा तुरीय—की कल्पना की गई है और प्रणव (ओंकार) की चार मात्राओं अ, उ, म तथा अव्यक्त रूप अमात्र के साथ परब्रह्म के एक एक पाद का साम्य स्थापित किया गया है।

आचार्य गौड़पाद ने इस उपनिषद् पर माण्डूक्यकारिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद् के विभिन्न सिद्धान्तों की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या करके इस उपनिषद् को अत्यधिक प्रसिद्ध कर दिया।

तैत्तिरीय उपनिषद्—तैत्तिरीय आरण्यक का सातवाँ, आठवाँ तथा नवाँ प्रपाठक ही तैत्तिरीय उपनिषद् के रूप में विख्यात है। उपनिषद् में इनके नाम क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली हैं। ये वल्लियाँ पुनः अनुवाकों में विभक्त हैं। प्रथम शिक्षावल्ली में संहितादि विषयक विभिन्न उपासनाओं का निरूपण है। इसी वल्ली में गुरु के द्वारा स्नातक ब्रह्मचारी को दिया गया वह अमूल्य उपदेश है[2] जो भारतीय संस्कृति के मंगलमय स्वरूप को तो प्रगट करता ही है; साथ ही वर्तमान युग की भौतिकतावादी स्वार्थलिप्सा के दुष्परिणामों से बचाने के लिए भी परम हितकर है। ब्रह्मानन्दवल्ली में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' का सूत्र कह कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के द्वारा ब्रह्म का लक्षण किया गया है। इसी वल्ली में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पंच कोशों के स्वरूप वर्णन पूर्वक ब्रह्म ज्ञान का विस्तार किया गया है। भृगुवल्ली में वरुण अपने पुत्र भृगु के द्वारा ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान की जिज्ञासा करने पर उसे पंचकोश विवेक समझा कर ब्रह्मज्ञान देते हैं। ब्रह्मज्ञान का प्रथम द्वार अन्न था, अतः उपनिषद् के अन्त में अन्न के बहुमुखी महत्त्व का पुनः कथन किया गया है।

ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक का ही एक अंश रूप है। उसके द्वितीय विभाग—आरण्यक का चौथा, पाँचवाँ तथा छठा अध्याय ही ऐतरेय उपनिषद् कहलाता है। इसमें तीन अध्याय तथा पाँच खण्ड हैं। प्रथम अध्याय में आत्मा (ब्रह्म) के द्वारा विश्व की उत्पत्ति तथा ब्रह्म के सर्वश्रेष्ठ व्यक्त रूप पुरुष का स्वरूप वर्णित है। वैदिक पुरुष सूक्त इस अध्याय का आधार जान पड़ता है। अगले दोनों अध्यायों में आत्मा की श्रेष्ठता, जीवोत्पत्ति, सृष्टि तत्त्व तथा प्रज्ञान का विवेचन किया गया है।

---

1. मुण्डक उपनिषद् 3/1/1–द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
   —ऋग्वेद–1/164/20–
2. तैत्तिरीय उपनिषद्–1/11/1–4

छान्दोग्य उपनिषद्—यह सामवेद के ब्राह्मण का ही अन्तिम अंश रूप है। इसमें आठ प्रपाठक हैं जो पुनः 154 खण्डों में विभक्त हैं। प्राचीनता एवं तत्त्वविवेचन की दृष्टि से यह उपनिषद् नितान्त प्रामाणिक तथा प्रौढ़ माना जाता है। प्रथम दो अध्यायों में ओंकार उपासना, विविध सामोपासना तथा स्वर-वर्ण उच्चारण चिन्तन, आश्रय त्रय वर्णन आदि है। सामोपासना के विविध प्रकारों में संगीत सिद्धान्तों का तत्कालीन रूप देखा जा सकता है। तृतीय अध्याय में देवमधु के रूप में सूर्योपासना, मधुविद्या, आत्म यज्ञ आदि वर्णित हैं। अद्वैतवाद का मूल मन्त्र 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (3/14/1) इसी अध्याय में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक सूत्र की दृष्टि से भी तृतीय प्रपाठक महत्वपूर्ण है। इसी में (3/17) घोर अंगिरस् देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्मशिक्षा देते हैं। चतुर्थ प्रपाठक में राजा जानश्रुति तथा रैक्व का दार्शनिक उपाख्यान तथा सत्य काम जाबाल (4/4/9) की कथा है। पंचम प्रपाठक में प्राण विद्या, श्वेतकेतु-प्रवाहण संवाद, अग्नि विद्या तथा उद्दालक-अश्वपति संवाद में सृष्टि विषयक सिद्धान्त आदि की विवेचना है। अन्तिम तीनों प्रपाठकों में उद्दालक द्वारा श्वेतकेतु को ज्ञानोपदेश, नारद की सनत्कुमार से आत्मविद्या प्राप्ति तथा प्रजापति के द्वारा इन्द्र को आत्मज्ञान प्रदान की कथाएँ हैं जिनके माध्यम से उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञान विवेचन किया गया है। इस प्रकार यह उपनिषद् आत्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट कोष है।

बृहदारण्यक उपनिषद्—शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें (अन्तिम) काण्ड के अन्तिम छह अध्यायों (चौथे से नवें) में यह बृहदारण्यक उपनिषद् है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है। इसमें आरण्यक एवं उपनिषद-दोनों ही सम्मिलित हैं; किन्तु उपनिषद् भाग अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। यह उपनिषद् आकार में जितना बृहद है, तत्त्वज्ञान एवं दार्शनिक प्रतिपादन में भी उतना ही उच्चकोटिक, गम्भीर एवं गौरवशाली है।

इस उपनिषद् के छह अध्यायों में दो दो अध्यायों को मिला कर एक काण्ड कहा गया है जिनके नाम क्रमशः मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्य काण्ड तथा खिल काण्ड हैं। प्रथम अध्याय में सृष्टि विज्ञान वर्णित है। अश्वमेध के अश्व को पुरुष रूप मानकर उसकी आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। प्राण को आत्मा का प्रतीक और आत्मा (ब्रह्म) से क्रमशः विविध सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में काशीराज अजातशत्रु के द्वारा अहंमन्य ब्राह्मण गार्ग्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश है। इसी अध्याय में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को अमृतत्व के साधन का व्याख्यान करते हैं। तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय याज्ञवल्क्य की अध्यात्म शिक्षा तथा ब्रह्मविद्या का चरम निदर्शन है। याज्ञवल्क्य जनक की सभा में विभिन्न देशों के विद्वानों के प्रश्नों का समाधान करते हैं, आत्मतत्त्व की मीमांसा करते हैं और जनक को ब्रह्म एवं आत्म तत्त्व की विशद् व्याख्या समझाते हैं। पंचम एवं षष्ठ अध्याय खिलकाण्ड हैं तथा इनमें प्रतिपादन की दृष्टि से भी परस्पर भिन्न-भिन्न विषय हैं। प्रजापति के द्वारा 'द' शब्द से देवों, असुरों और मनुष्यों को शिक्षा, पंचाग्नि विद्या, श्वेतकेतु-प्रवाहण जैबलि आख्यान आदि अनेक प्रसंग इसी खिल काण्ड में हैं। विद्वानों ने एक स्वर से इस उपनिषद् को अध्यात्म एवं ब्रह्मज्ञान का उत्कृष्ट ग्रन्थ स्वीकार किया है।

कौषीतकी उपनिषद्—यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। शांखायन आरण्यक का तीसरा,

चौथा, पाँचवा तथा छठा-ये चार अध्याय ही कौषीतकी उपनिषद् हैं। इसके प्रथम अध्याय में मृत्यु के उपरान्त आत्माओं के जाने के देवयान और पितृयान मार्गों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में आत्मविद्या विवेचन है। तृतीय अध्याय में इन्द्र प्रतर्दन को ब्रह्मविद्या का ज्ञान देता है। इसी अध्याय में प्राण तत्त्व का विशद वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में भी अध्यात्म चर्चा ही है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद में छह अध्याय हैं जिनमें नित्य शुद्ध परमात्मस्वरूप, योग साधन, प्राणि बन्धनरूप संसार, शिवमहिमा, ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता, प्रकृति का माया स्वरूप, विद्या-अविद्या, जीवात्मा स्वरूप, काल आदि विभिन्न विषयों का विवेचन है। इसमें अनेक वैदिक मन्त्र भी उद्धृत किए गए हैं।

अनेक दृष्टियों से श्वेताश्वतर उपनिषद् का बहुत महत्त्व है। प्रथमतः योग, सांख्य तथा वेदान्त के प्रारम्भिक उदयकालीन सिद्धान्त इस उपनिषद् में प्राप्त होते है। द्वितीय अध्याय में ध्यान योग की विधि एवं लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं। सांख्य मतानुकूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति का सुन्दर वर्णन इसमें सरलतया उपनिबद्ध है।[1] वेदान्त के सदृश यह संसार ब्रह्म की माया है।[2] इसी उपनिषद् में भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) तथा प्रेरिता (ईश्वर) के भेद से ब्रह्म को तीन प्रकार का कहा गया है।[3] द्वितीयतः, शैव धर्म की दृष्टि से यह उपनिषद् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस धर्म के इष्टदेव के शिव, रुद्र, ईशान, हर आदि नामों के उल्लेख के साथ-साथ शिव को ही ब्रह्म अथवा ईश्वर उद्घोषित किया गया है।[4] इसी कारण इसमें भक्ति भावना का आभास भी मिलता है। ईश्वर के प्रति भक्ति के सदृश ही इसमें गुरु के प्रति भक्ति का भी कथन किया गया है। (6/23) तृतीयतः, यही उपनिषद् एकमात्र ऐसी रचना है जो किसी एक विद्वान (श्वेताश्वतर) की रचना रूप में वर्णित है (6/21)। अन्य उपनिषद् किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर 'परम्परा या विकसित ज्ञान' के संगृहीत ग्रन्थ के रूप में ग्रहण किए जाते हैं।

मैत्री अथवा मैत्रायणी उपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध उपनिषद् है। आरण्यकों में इसका संक्षिप्त वर्णन किया ही जा चुका है। इसमें सात अध्याय या प्रपाठक हैं जिनमें छठे का उत्तरार्ध तथा सातवाँ प्रपाठक परिशिष्ट रचना कही जाती है। बौद्ध धर्म के प्रभाव, परवर्तीकालीन भाषा तथा निराशावादी प्रवृत्ति के कारण यह सर्वाधिक अर्वाचीन उपनिषद् माना जाता है।

उपनिषदों की विचारधारा—वेदों का सरल धर्म और दर्शन ब्राह्मणों में आकर जटिल के साथ-साथ स्थूल भी बन गया था। ब्राह्मणों में भी कहीं कहीं अध्यात्म का स्वर है अवश्य; किन्तु मूलतया ब्राह्मणों की जटिल कर्मकाण्डीय स्थूलता से ही आरण्यकों की आध्यात्मिकता उत्पन्न हुई

---

1 श्वेताश्वतर उपनिषद्— 4/5 अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः।
अजो हयेको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोग्यामजोऽन्यः।

2 श्वेताश्वतर उपनिषद्— 4/10 मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

3 श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/12—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्त त्रिविधं ब्रह्ममेतद्॥

4 श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/2—एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।

जिसने यज्ञ को मानसिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। आरण्यकों में ही जीव, ब्रह्म, आत्मा आदि से सम्बद्ध प्रश्नों का श्रीगणेश तो हो चुका था किन्तु उन प्रश्नों के विवेचन एवं समाधान का परिशुद्ध एवं उत्कृष्ट रूप उपनिषदों में ही दृष्टिगोचर होता है। बड़े-बड़े यज्ञों तथा पशुबलि की स्थूल हिंसा के प्रति अनास्था का भाव धारण करके उपनिषदों ने तात्त्विक विवेचन पर ही ध्यान दिया। इसी कारण लगभग प्रत्येक उपनिषद् में अनेक प्रश्न दृष्टिगोचर होते हैं—प्रजाएँ किससे उत्पन्न हुई? कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं? यह प्राण ही किससे उत्पन्न होता है तथा इस शरीर में कैसे आता है?[1] इस संसार का कारण क्या ब्रह्म है; हम सब कहां से उत्पन्न हुए हैं; किसकी सत्ता से हम जीवित हैं?[2] किससे प्रेरित होकर यह मन अपने इष्ट विषय को प्राप्त होता है?[3] मृत्यु के पश्चात् भी जीवात्मा है अथवा नहीं?[4] मैं स्वयं अमृतत्व कैसे प्राप्त करूं?[5] ऐसे ही असंख्य प्रश्नों के उत्तर-प्रत्युत्तर, संवाद, दृष्टान्त तथा सिद्धान्तों के गूढ़ विवेचन में औपनिषदिक विचारधारा परिपुष्ट हुई। प्रत्येक उपनिषद् में आपाततः भिन्न भिन्न विवेचन होने पर भी कतिपय विचारों के अन्तः प्रवाहमें नितान्त सादृश्य ही परिलक्षित होता है।

विभिन्न विद्वानों तथा दार्शनिकों ने उपनिषदों की इन विचारधाराओं अथवा दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या समाहार की दृष्टि से दो भागों में की है—(1) अध्यात्म विद्या तथा (2) नीति शास्त्र। अध्यात्म विद्या के अन्तर्गत आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि की समस्या का प्रतिपादन और विश्लेषण किया गया तथा नीति शास्त्र में व्यक्ति के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की उच्चतम धारणा तथा मृत्यु, पुनर्जन्म एवं कर्मवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। उपनिषदों का लक्ष्य परम सत्य की खोज करना है। विचार की पीठ पर स्थित होकर वैदिक सूक्त जिस उच्चतम स्तर तक पहुँचे थे, उसके अनुसार एक मात्र सत्ता यथार्थ है-एकं सत्-जो नाना सत्ताओं में स्वयं को व्यक्त करती है। आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उपनिषदों में भी उसी निष्कर्ष का समर्थन किया गया है।

आत्मा—उपनिषदों में आत्मा एवं ब्रह्म-ये दो पद पर्याय रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं और पृथक् अर्थ में भी। अनेक उपनिषदों ने आत्मतत्त्व का वर्णन जिन शब्दों में किया है, अन्य उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन उन्हीं शब्दों से प्राप्त है। शंकराचार्य ने लिंगपुराण को उद्धृत करते हुए आत्मा पद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ इस प्रकार किया है—'क्योंकि यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है

---

1 प्रश्नोपनिषद् 1/3 कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।
2/1 कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते...।
3/1 कुत एव प्राणो जायते कथमायात्यस्मिंछरीरे—।

2 श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/1 — किं कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाता, जीवाम केन—।

3 केनोपनिषद् 1/1 — केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणःप्रथमं प्रैति युक्तः।

4 कठोपनिषद् 1/1/20 — येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

5 वृहदारण्यक उपनिषद्—2/4/2-येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्या यदेव भगवन् वेद तदेव मे ब्रूहि।

और इस लोक में विषयों को भोगता है तथा इसका सर्वथा सद्‌भाव है इसलिए यह आत्मा कहलाता है।'[1] इस अर्थ से भी आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य ही जान पड़ता है। यही आत्मतत्त्व चराचर के सभी रूपों में व्याप्त है। औपनिषदिक विचारधारा के मूल में शरीर के उस अवधारक तत्त्व को खोजने का आकुल प्रयत्न था जिससे यह शरीर गतिशील होता है। इसी खोज की यात्रा में उन चिन्तकों ने एक चेतन शक्ति को शरीर का आधार, नियामक और प्रेरक मानते हुए उसे 'आत्मा' नाम से अभिहित किया। इसीलिए वह आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और वाणी का भी वाणी है, वही प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है।[2] इस अविनाशी आत्मा तत्त्व से ही प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, चित्र, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र, कर्म आदि सभी होते हैं।[3] वह आत्मा स्थिर है पर मन से भी अधिक वेगवान् है।[4] यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न ही मरता है। यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही अर्थान्तर रूप से कुछ बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता।[5]

माण्डूक्योपनिषद् ने अत्यन्त व्यवस्थित रूप में आत्मा के चार पादों का वर्णन किया है—'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'। ये चार-वैश्वानर, तेजस्, प्राज्ञ एवं तुरीय ही चेतना के चार रूपों-जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय से सम्बद्ध हैं।[6] जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्था में जिस चैतन्य का अनुभव होता है उसी चैतन्यात्म को जीवात्मा कहा गया। किन्तु तुरीयावस्था विशुद्ध आत्मा की अवस्था है और वही ज्ञेय एवं प्राप्तव्य है।[7]

ब्रह्म—उपनिषदों में दृश्यादृश्य तथा चराचर सभी को ब्रह्म कहा गया है।[8] किन्तु यह परम सत्ता (ब्रह्म) अनिर्वचनीय तथा अव्याख्येय है। संसार का प्रत्येक भौतिक पदार्थ उस परम सत्ता पर

---

1 कठोपनिषद् 2/1/1 पर शांकर माष्य में उद्धृत लिंग पुराण 1/70/96–
यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

2 केनोपनिषद् 1/2 – श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षु—।
बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/18–तथा प्राणस्य प्राणरुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः।

3 छान्दोग्य उपनिषद् 7/26/1 – आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश
आत्मतस्तेज—आत्मत कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति।

4 ईश उपनिषद् 4 – अनेजदेकं मनसो जवीयो—

5 कठोपनिषद् 1/2/18 न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

6 माण्डूक्य उपनिषद् 3...6

7 माण्डूक्य उपनिषद् 7–चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

8 छान्दोग्य उपनिषद् 3/14/1–सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
केनोपनिषद् 1/4 – 8

आश्रित हैं फिर भी कोई पदार्थ उस सत्ता को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पाता। जो यह समझते हैं कि वे आत्मा को नहीं जानते, वे आत्मा को अल्प रूप में जानते हैं, और जो यह समझते हैं कि उन्होंने आत्मा (ब्रह्म) को जान लिया, वे उसे बिल्कुल ही नहीं जानते।[1] जो 'जानता तथा नहीं जानता' दृष्टि वाला है वही ब्रह्मतत्त्व को जान पाता है।[2] यह ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। आत्मा अभावात्मक अनिर्दिष्ट तत्त्व नहीं है अपितु एक भावात्मक यथार्थ सत्ता है; तथापि आत्मा का वर्णन 'नेति नेति' रूप में ही किया जा सकता है। आत्मा की अनिर्वचनीयता और निषेधविधि से निरूपणीयता बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण से स्पष्ट है। आत्मा की अवाच्यस्वभावता का का निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'आत्मा स्थूलत्वादि संसारधर्मों से परिवर्जित है। वह निरतिशय है। वह चैतन्यस्वरूप है।[3] उसको प्रमाणपुरःसर कोई नहीं जान सकता, क्योंकि स्वयंप्रकाश होने से वह सारे प्रमाणों का अविषय है।[4] इसी अवाच्यस्वभाव आत्मा के ज्ञान से अमृतत्व प्राप्ति होती है।[5]

आत्मा सर्वान्तर है।[6] वह परिच्छिन्न नहीं है। आत्म साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है। यह देश और काल के व्यवधान से रहित है, सदा प्राप्त है, देशान्तरस्थ भी नहीं है। आत्मा स्वप्रकाश स्वभाव है, इन्द्रियवृत्तियों के द्वारा उसको प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का नेत्र होकर भी सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुख से लिप्त नहीं होता, अपितु उनसे बाहर रहता है।[7] इसीलिए मनुष्य को आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।[8] ब्रह्म को प्रणव (ओंकार)[9] भी कहा गया है। माण्डूक्य

---

1 केनोपनिषद् 2/3 —यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

2 केनोपनिषद् 2/2 यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।

3 बृहदारण्यक उपनिषद् 3/8/8—अस्थूलम् अनणु अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्
— न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति किंचना।

4 केनोपनिषद् 1/3

5 कठोपनिषद् 1/3/15—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

6 बृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/1—यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः।

7 कठोपनिषद् 2/2/11—सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

8 बृहदारण्यक उपनिषद् 4/5/6—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि

9 तैत्तिरीय उपनिषद् 1/8/1–ओमिति ब्रह्म।—
कठोपनिषद् 1/2/15, 16 तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परं।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

उपनिषद् में प्रणव का अत्यन्त विस्तृत व्याख्यान किया गया है। ओंकार ही त्रिकालातीत वस्तु है। छान्दोग्य उपनिषद् (1/4/2....5) में ओंकारोपासना से अमरत्व प्राप्ति वर्णित है।

जगत् की सृष्टि—परब्रह्म से ही समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, आश्रय पाते हैं और प्रलयकाल में उसी ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाते हैं।[1] जिस प्रकार मकड़ी जाले का निर्माण करती है और पुनः ग्रहण कर लेती है; जिस प्रकार पृथिवी से ओषधियाँ उत्पन्न होती है; जिस प्रकार विद्यमान जीवात्मा पुरुष शरीर के परिपूर्ण युवावस्था में श्मश्रु-लोम आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर (ब्रह्म) से यह विश्व उत्पन्न होता है।[2] ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति भी है और उसी में सृष्टि का लय भी।[3]

ब्रह्म ज्ञान का उपाय—आत्मस्वरूप दुर्विज्ञेय है किन्तु आगम और आचार्य के उपदेश के द्वारा सुविज्ञेय होता है। यह आत्मा तर्क का विषय नहीं है।[4] अत्यधिक शास्त्राभ्यास भी इसके ज्ञान में बाधक है।[5] अनुमान के द्वारा यह प्रश्न के अयोग्य है अर्थात् अनतिप्रश्न्य है। यह आत्मा इन्द्रियगम्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियों की वृत्ति तो बाह्य विषयोन्मुख होती है।[6] वाणी एवं मन उसे न पाकर लौट आते है।[7] अभेददर्शी आचार्य के उपदेश से यह आत्मा भली प्रकार जाना जा सकता है।[8] धीर पुरुष अन्तः प्रविष्ट होकर उसे देखता है।[9] आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करने वाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है।[10]

ब्रह्म प्राप्ति के सन्दर्भ में ही उपनिषदों में परा एवं अपरा विद्या का कथन हुआ है। परा विद्या से ब्रह्म जाना जाता है तथा अपरा विद्या में उन सभी विद्याओं का समावेश होता है जो इहलौकिक अथवा पारलौकिक सुखों को प्राप्ति कराती हैं।[11] इन्हीं को श्रेय तथा प्रेय भी कहा गया है।[12] श्रेय

---

1 तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1/1- —यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति— श्वेताश्वर उपनिषद 3/1

2 मुण्डकोपनिषद् 1/1/7—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

3 माण्डूक्य उपनिषद् 6—एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

4 कठोपनिषद् 1/2/9—नैषा मति तर्कणापनेया—

5 बृहदारण्यक 4/4/21

6 कठोपनिषद् 2/1/1

7 तैत्तिरीय उपनिषद् 2/4/1—यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।—

8 छान्दोग्य उपनिषद् 4/9/3—आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति।
6/14/2—आचार्यवान् पुरुषो वेद।

9 कठोपनिषद् 2/1/1

10 कठोपनिषद् 1/2/23—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

11 मुण्डकोपनिषद् 2/2/5—अपरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

12 कठोपनिषद् 1/2/1—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः—

ही वास्तविक विद्या है, प्रेय तो अविद्या ही है ।[1] कठोपनिषद् में श्रेय एवं प्रेय का विस्तृत विवेचन है ।

ईश्वरवाद—श्वेताश्वर उपनिषद् में व्यापक स्तर पर ईश्वरवाद का निरूपण किया गया है । इस उपनिषद् ने स्पष्टतया अज्ञ एवं असमर्थ जीव तथा सर्वज्ञाता एवं सर्वसमर्थ ईश्वर का चिन्तन किया । विश्व के विभिन्न भोगों के सम्पादन हेतु त्रिगुणात्मिका प्रकृति नियुक्त रहती है । प्रकृति माया है तथा महेश्वर मायिन् है ।[2] माया या प्रकृति क्षर है और ईश्वर उसको नियमित करता है ।[3] इस उपनिषद् ने ईश्वर या ब्रह्म को हर, देव, ईश, शिव, रुद्र, महेश्वर आदि नामों से लक्षित किया है ।[4] ये सभी नाम शैवधर्म में शिव के विशिष्ट पर्याय हैं अतः शैवधर्म में इस उपनिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान है । सम्पूर्ण श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्मपद के साथ अन्य देवतत्त्वों को जोड़कर ईश्वरवाद की स्थापना की गई है । सम्भवतः ब्रह्मचिन्तन की नीरसता को हटा कर भक्ति की सरसता द्वारा ब्रह्मनिरूपण करने की भावना ही इस स्थापना के मूल में हो ।

आचार शास्त्र—भारतीय जनमानस में कर्मानुसार फल प्राप्ति की भावना बद्धमूल है । इसी कारण उपनिषदों में आत्मतत्त्व विवेचन में ही यत्र तत्र चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले सार्वकालिक उत्तम कर्मों पर अत्यधिक बल दिया गया है । इस दृष्टि से तैत्तिरीय उपनिषद् एवं बृहदारण्यक उपनिषद् के दो सन्दर्भ विशेषतया पठनीय एवं मननीय हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के ग्यारहवें अनुवाक् में गुरु स्नातक ब्रह्मचारी को आगामी जीवन के लिए जो उपदेश देता है वह समाज में उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से अनुपमेय है ।[5] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् (5/2/3) में प्रजापति देवों, मनुष्यों एवं असुरों-तीनों को ही 'द' अक्षर का उपदेश देते हैं जिनसे ग्रहण होने वाले दम (इन्द्रिय दमन), दान तथा दया की महत्ता सर्वविदित ही है ।

उपनिषदों में सम्पूर्ण आचार विवेचन की आधार भित्ति सत्य है । सत्यकाम जाबाल की कथा सत्य कथन की महत्ता को सुन्दरतया उद्घाटित करती है ।[6] सत्यभाषण के कारण ही उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्ति हुई । असत्याचरण करने वाला व्यक्ति समूल नष्ट हो जाता है ।[7] किन्तु सत्य पालन करना सरल नहीं है । विश्व की विविध लोभनीय वस्तुएँ सत्यको आवृत्त किए रहती है । उन लोभों का त्याग करके ही सत्य प्रतिष्ठा हो सकती है ।[8] सत्य की इसी महिमा के कारण तप, दम, कर्म,

---

1 ईशोपनिषद् 11–विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोऽभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

2 श्वेताश्वर उपनिषद् 4/10 – मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिन्तु महेश्वरम् ।

3 श्वेताश्वर उपनिषद् 1/10 – क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

4 श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/10; 2/16; 17, 4/1; 3/1, 6/7, 17; 3/11, 4/14, 16, 5/14; 3/2, 4,5; 4/10, 6/7;

5 तैत्तिरीय उपनिषद् 1/11/1 – 4 –-सत्यंवद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

6. छान्दोग्य उपनिषद्—4/4/1. 5

7. प्रश्नोपनिषद् 6/1—समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति ।

8. छान्दोग्य उपनिषद् 4/4/1. . . . .

उपनिषदादि सभी सत्य में ही समाहित हैं ।[1] सत्यकी भाँति धर्म भी सदैव पालनीय है । धर्म का अर्थ है व्रत अथवा कर्तव्य । पवित्रता, अपरिग्रह, अतिथिसत्कार आदि धर्म में ही सम्मिलित हैं । इन्द्रियरूपी अश्वों को मन रूपी रश्मि से सदैव संयमित रखना ही दम है ।[2] आत्मा से तामस भाव के निराकरण तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रद्धापूर्वक सामर्थ्यानुसार दान देना चाहिए ।[3] धन के प्रति अनासक्ति हो तथा त्याग पूर्वक ही धन का उपभोग हो ।[4] क्योंकि धन सेकभी परितृप्ति नहीं होती ।[5]

व्यक्ति का यह उत्कृष्ट आचरण ही उसे मोक्ष प्राप्त कराता है ।[6] अशान्त चित्त एवं दुराचारी व्यक्ति सूक्ष्म बुद्धि पाकर भी परमात्मा को नहीं जान पाता ।[7]

कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष—समाज में उदात्त नैतिकता के प्रसार मात्र की दृष्टि से ही उत्तम कर्मों का महत्त्व नहीं है किन्तु पुनर्जन्म से छूट कर मोक्षलाभ करने के लिए भी उत्तम कर्म साधन हैं । उपनिषदों में कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक अथवा अन्योन्याश्रित रूप में प्राप्त होते हैं । जिस् प्रकार बोए गए बीज के अनुरूप ही फल प्राप्त होता है उसी प्रकार अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार ही मनुष्य विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं ।[8] अज्ञानी पुरुष (जीवात्मा) एक शरीर के छूट जाने पर पुनः अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ करके दूसरा जन्म वैसे ही व्यतीत करता है जैसे कोई कीड़ा एक पत्ते के सिरे पर पहुँच कर पुनः चलता हुआ पत्ते के दूसरे सिरे तक पहुँचा करता है ।[9] किन्तु आत्मज्ञान होते ही संसार एवं पुनर्जन्म के ये समस्त बन्धन शिथिल हो जाते है । कर्मों

---

1 केनोपनिषद् 4/8 – तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम् ।

2 केठोपनिषद् 1/3/3,4

3 तैत्तिरीय उपनिषद् 1/11/3 – श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् ।
ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।....

4. ईशोपनिषद् 1 – तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।

5. कठोपनिषद् 1/1/27 – न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः—

6 कठोपनिषद् 1/3/8 – यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

7. कठोपनिषद् 1/2/24—न्नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

8. कठोपनिषद् 2/2/7—योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

9. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/3

के विषय में आत्मज्ञानी जीवात्मा की दशा कमलपत्र सदृश होती है। जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं ठहरता, ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी में पापकर्म लिप्त नहीं होते।[1] ऐसी ज्ञानतृप्त, कृतात्मा, वीतराग तथा प्रशान्त जीवात्माएँ ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्म में ही लीन हो जाती है।[2] जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप को त्यागकर समुद्र में अदृष्ट हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान पुरुष मरण समय में नाम एवं रूप से रहित होकर दिव्य एवं परात्पर पुरुष (ब्रह्म) में लीन हो जाता है।[3]

डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने उपनिषदों के इस दार्शनिक विवेचन को मूल प्रवृत्तिकी संज्ञा दी है और उपनिषदों की पाँच मूल प्रवृत्तियों का निरूपण किया है। वे इस प्रकार है—(1) आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति; (2) तात्त्विक ज्ञान की प्रवृत्ति; (3) श्रेयः और प्रेयः का विवेक; (4) मृत्यु, पुनर्जन्म और अमृतत्व प्राप्ति पर विचार तथा (5) वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति।

उपनिषदों के आत्मतत्त्व विवेचन को हम कितनी ही श्रेणियों में किसी भी नाम से विभक्त करें, उसका महत्त्व सर्व विदित है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शनशास्त्र पर उपनिषदों के तत्वचिन्तन का बहुमुखी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः 'उपनिषद् वेदों के तत्त्व तथा रहस्य के प्रतिपादन के कारण सचमुच ही वेदान्त हैं।'

उपनिषदों के साथ ही संस्कृत साहित्य का प्रारम्भिक भाग—वैदिक साहित्य– समाप्तप्राय माना जाता है। प्रत्येक संहिता से सम्बद्ध ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों को तालिका के द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

संहिता	**ब्राह्मण**	**आरण्यक**	**उपनिषद्**
ऋग्वेद	1 ऐतरेय	1 ऐतरेय	1 ऐतरेय
	2 शांखायन (कौषीतकी)	2 शांखायन	2 कौषीतकी
कृष्ण यजुर्वेद			
	1 तैत्तिरीय	1 तैत्तिरीय	1 तैत्तिरीय
		2 मैत्रायणीय	2 कठ
			3 श्वेताश्वतर
			4 मैत्री
शुक्ल यजुर्वेद			
	1 शतपथ	1 बृहदारण्यक	1 ईश
			2 बृहदारण्यक

1 छान्दोग्य उपनिषद् 4/14/3—यथा पुष्करलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेव इदं पापकर्म न श्लिष्यन्त.....।

2 मुण्डक उपनिषद्—3/2/5—संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

3 मुण्डक उपनिषद्—3/2/8—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

सामवेद	1 ताण्ड्य 2 षड्विंश 3 सामविधान 4 आर्षेय 5 दैवत 6 मन्त्र (छान्दोग्य) 7 संहितोपनिषद् 8 वंश 9 जैमिनीय	1 तलवकार 2 छान्दोग्य	1 केन 2 छान्दोग्य
अथर्ववेद			**गोपथ** 1 प्रश्न 2 मुण्डक 3 माण्डूक्य

वैदिक साहित्य के इन विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में श्री रामगोविन्द ने समुचित ही लिखा है कि "प्राप्त संहिताओं (मन्त्र भाग), ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का सूक्ष्मतया अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होगा कि चारों का ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि चारों में चारों सम्मिलित पाए जाते हैं। पहले कहा ही गया है कि ईशावास्योपनिषद् माध्यन्दिन संहिता का अन्तिम अध्याय ही है। तैत्तिरीय संहिता का शेषांश तैत्तिरीय ब्राह्मण है और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग तैत्तिरीयारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद् हैं। मैत्रायणी और काठक संहिताओं में तो अधिक ब्राह्मणादि अब तक सम्मिलित ही हैं। छान्दोग्योपनिषद् में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों ही हैं। यही बात बृहदारण्यक की भी है। साधारण क्रम यह मालूम पड़ता है कि संहिता का उत्तरांश ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण का शेष आरण्यक है और आरण्यक का शेषांश उपनिषद् है। इस क्रम से और विशेष क्रम से भी ज्ञात होता है कि वेद रूपी एक ही शरीर के सब अंश हैं। सबको लेकर वेद पूर्ण होता है। यही कारण है कि सनातन धर्मी इन मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि चारोंका वेदत्व और नित्यत्व मानते हैं। जैसे ऋग्वेद के मन्त्र यजुः साम और अथर्व संहिताओं में पाए जाते हैं, वैसे ही ब्राह्मणों में भी पाए जाते हैं। जैसे ऋग्वेदीय ऋचाओं (मन्त्रों) को सामवेद में गेय बनाया गया है, वैसे ही ब्राह्मणादि में मन्त्रों का निर्वचन किया गया है। फलतः ये चारों ही वेद हैं और चारों के ही दृष्टा, स्मारक और प्रचारक ऋषि महर्षि हैं। आध्यात्मिक अर्थ करने पर सभी ज्ञानमय हैं, अद्वैतवादी हैं; आधिदैविक अर्थ करने पर सभी सकाम और निष्काम यज्ञपरक हैं तथा आधिभौतिक अर्थ करने पर सभी में इतिहास सम्मिलित है। निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर इन चारों में ये तीनों ही अर्थ यथास्थान उपन्यस्त हैं और सायण आदि भाष्यकारों ने यथास्थान इन अर्थों को लिखा भी है।"

■

5
वेदाङ्ग

वेदों से लेकर उपनिषद् तक के सम्पूर्ण साहित्य को भारतीय प्रज्ञा 'श्रुति' के रूप में समादृत करती है। उस सम्पूर्ण साहित्य का प्रत्येक शब्द दैवी प्रकाश से मण्डित ब्रह्म का उच्छ्वास ही है जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अथवा श्रवण प्रबुद्ध चेता मनीषी ऋषियों के द्वारा हुआ था। इसीलिए उसकी संज्ञा 'श्रुति' अन्वर्थ है। किन्तु वेदान्त रूप उपनिषद् ग्रन्थों तक ही वैदिक साहित्य की सीमा रेखा नहीं कही जा सकती। वेदों को आधार बना कर रचा गया एक अन्य विपुल साहित्य और है जो श्रुति के अनुकरण पर स्मृति कहलाया। इन्हीं के अन्तर्गत वेदांग साहित्य का भी परिगणन किया जाता है जो वेदार्थ को स्पष्ट करने और भली प्रकार समझने में परम उपयोगी है।

वैदिक साहित्य का विस्तार बढ़ते जाने के साथ-साथ कर्मकाण्ड की जटिलता एवं दुरूहता ने वेद के अर्थ को भी दुर्बोध बना दिया। तब क्रमशः ब्राह्मण साहित्य के तुरन्त बाद से ही एक नवीन प्रकार के साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई, जो वेद के अर्थ जानने में तथा कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में सहायक होता था। यह साहित्य वेदांग कहलाया। 'अंग' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है—'अंग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति अंगानि'—अर्थात् वे उपकारक तत्त्व अंग कहलाते हैं जिनसे वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है। जिस प्रकार विभिन्न अंगों से ही शरीर की पूर्णता सम्भव है, उसी प्रकार वेदांग वे साधन हैं जो वेदों का वास्तविक अर्थ जानने में परम उपयोगी हैं। वेदांगों के द्वारा मन्त्रों का अर्थ, उनकी व्याख्या एवं यज्ञीय कर्मकाण्ड में उनके विनियोग का बोध होता है। वेद अवयवी हैं और वेदांग अवयव। वेदांग के ज्ञान के बिना वेद अपूर्ण हैं। वेदांग छः प्रकार के हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। 'मन्त्रों के उचित उच्चारण के लिए शिक्षा का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प का, शब्दों के रूपज्ञान के लिए व्याकरण का, अर्थज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त निरुक्त का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए छन्द का तथा अनुष्ठानों के उचित कालनिर्णय के लिए ज्योतिष का उपयोग है और इनकी उपयोगिता के कारण ये छहों वेदांग माने जाते हैं।' वेदों के साथ इनका घनिष्ट सम्बन्ध इसी से स्पष्ट है कि ब्राह्मण

के लिए वेदों के साथ साथ वेदांगों का अध्ययन करना भी आवश्यक माना गया। इसीलिए महाभाष्यकार पतंजलि कह सके—'ब्राह्मणेन षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद के स्वरूप तथा अर्थ के संरक्षण के लिए ही वेदांग साहित्य का उदय हुआ। अनेक विद्वानों ने वेदांग साहित्य को अत्यन्त प्राचीन माना है। महाभारत के शान्तिपर्व में बृहस्पति एवं शिव को भिन्न भिन्न स्थलों पर वेदांगों का आदि प्रवर्तक आचार्य कहा गया है।[1] किन्तु यदि इन पौराणिक पुराकल्पनाओं को हम छोड़ भी दें, तो भी इतना सुनिश्चित ही है कि इस वेदांग साहित्य का प्रारम्भ ब्राह्मणों के समय से ही हो गया था क्योंकि मुण्डक उपनिषद् में वेदांग के छहों प्रकारों का नामोल्लेख स्पष्टतः प्राप्त होता है।[2] ये वेदांग सामान्यतया सूत्र शैली में लिखे गए हैं। ब्राह्मण काल में यज्ञविधान का बहुत विस्तार हो गया था। वैदिक कर्मकाण्ड, विनियोग एवं यज्ञविधि आदि के नियम-उपनियम अत्यधिक विस्तृत और व्यापक थे; यह सभी कुछ कंठस्थ ही किया जाता था क्योंकि तब श्रुति ही परम्परा थी। अतः कंठसंचारण की परम्परा के द्वारा ज्ञान को सुरक्षित रखने में सौकर्य तथा सुगमता की दृष्टि से एक नूतन गद्य शैली का प्रवर्तन हुआ। यह गद्य शैली 'सूत्र' नाम से प्रसिद्ध हुई। सूत्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—एक सूक्ष्म धागा। यही अर्थ लाक्षणिक रूप में ढलता हुआ 'लघु नियम' अर्थ को सूचित करने लगा और थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक नियम उपस्थापित करने वाली शैली के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। जब एक एक ग्रन्थ में सैकड़ों सूत्रों की रचना होने लगी तो उस ग्रन्थ को भी सूत्र नाम मिलने लगा। ऐसी रचनाओं का उद्देश्य एक क्रियात्मक विचार की पूर्ति करना था, जिससे एक विशाल विषय को अन्यन्त संक्षेप में उपस्थित किया जा सके। इस संक्षेप का मुख्य प्रयोजन केवल यही था कि उस विस्तृत ज्ञान को सरलतापूर्वक कंठस्थ किया जा सके। किन्तु संक्षिप्तीकरण की यह प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक थी—विषय का समस्त सार उन अल्प अक्षरों में समाहित हो, प्रयुक्त शब्दों का अर्थ स्पष्ट और सन्देह रहित हो तथा स्वयं शब्द भी अनिन्दित हो, तभी वह सूत्र कहलाता था।[3] प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रो. विण्टरनित्ज़ ने इसीलिए यह धारणा प्रकट की थी कि सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में सम्भवतः कोई भी ऐसी रचना नहीं है जिसे भारतीयों की सूत्र रचना प्रणाली की तुलना में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सके।

सभी वेदांगों में अधिकांशतया सूत्रशैली को अपनाया गया है। पाणिनीय शिक्षा में वेद की पुरुष रूप में कल्पना करके छहों वेदांगों को उस वेद पुरुष के विभिन्न शारीरिक अंगों के रूप में

---

1. महाभारत 12/112/32—वेदांगानि बृहस्पतिः
   12/284/92—वेदात्षडंगान्युद्धृत्य
2. मुण्डकोपनषिद् 1/1/5; तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा
   कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
3. विष्णु धर्मोत्तर पुराण—
   अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
   अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥॥

वर्णित किया गया है। तदनुकूल छन्द वेद पुरुष के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है। इस प्रकार अंगों सहित वेदाध्ययन करके व्यक्ति ब्रह्मलोक में आनन्द पाता है।[1]

शिक्षा—इस वेदांग का सम्बन्ध उच्चारण की शुद्धता से है। शिक्षा शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—सिखाना। वैदिक युग से ही यह सामान्य आस्था रही है कि यज्ञ के वास्तविक शुद्ध अनुष्ठान के लिए एक ओर यज्ञ की विधि को सम्यग्तया जानना आवश्यक है तो दूसरी ओर उस विधि के मन्त्र का शुद्ध उच्चारण किया जाना भी उतना ही अनिवार्य है। अत: वेदांग के रूप में शिक्षा का महत्त्व स्वत: स्पष्ट है। सायण ने शिक्षा का अर्थ इस प्रकार दिया है—'जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण-प्रकार का उपदेश देती है, वह शिक्षा है।'[2]

इस वेदांग से सम्बन्ध रखने वाले समुचित ग्रन्थों की रचना से बहुत पूर्व ही वैदिक ऋषियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ था। ब्राह्मणग्रन्थों में भी शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय नियमों का उल्लेख यत्र तत्र पाया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा के छह अंगों के नाम दिए गए हैं [3] – वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्तान। पाणिनीय शिक्षा में इन छह अंगों पर विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

वर्ण—वर्ण से अभिप्राय है अक्षर। संस्कृत वर्णमाला में 63 अथवा 64 वर्ण हैं।[4] वेदज्ञान के लिए वर्णमाला का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।

स्वर—वेद के उच्चारण की शुद्धता के लिए स्वर के ज्ञान की बहुत आवश्यकता होती है। स्वर तीन प्रकार के हैं—उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। वेदों में शब्द के एक होने पर भी स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है। पाणिनीय शिक्षा ने इसीलिए स्पष्टत: कहा कि 'स्वर अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ प्रतिपादित नहीं करता। वह वाग्वज्र बन कर यजमान का वैसे ही विनाश कर देता है जैसे स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का ही नाशक बन गया।'[5]

---

1. पाणिनीय शिक्षा 41,42 – छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
   ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
   तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥
2. सायण-ऋग्वेदभाष्यभूमिका—स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते,
   उपदिश्यते सा शिक्षा।
3. तैत्तिरीय उपनिषद् 1/2 – शीक्षां व्याख्यास्याम:।
   वर्ण:, स्वर:, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान: इत्युक्त: शीक्षाध्याय:।
4. पाणिनीय शिक्षा 3 – त्रिषष्टिष्चतु: षष्टिर्वा वर्णा: शम्भुमते मता:।
5. पाणिनीय 52 – मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा
   मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
   यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्॥

मात्रा—स्वरों के उच्चारण में लगने वाला समय मात्रा कहलाता है। मात्रा तीन प्रकार की हैं—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत।

बल—इसमें प्रयत्न और स्थान दोनों सम्मिलित हैं। वर्गों के उच्चारण में जो प्रयास करना पड़ता है उसे प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर प्रयत्न तथ बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है और बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है। उच्चारण स्थान भी आठ कहे गए हैं।

साम—दोष से रहित, माधुर्यादि गुणों से युक्त, स्पष्ट तथा श्रुतिमधुर वर्णोच्चारण ही साम कहलाता है। शिक्षा ग्रन्थों ने वर्णोच्चारण के अनेक दोषों तथा गुणों का नितान्त वैज्ञानिक दृष्टि से वर्णन किया है।[1]

सन्तान—पदों की अत्यधिक समीपता का उचित ज्ञान ही सन्तान है। विभिन्न पदों में सन्धि नियमों का ज्ञान और उनका आवश्यकतानुसार प्रयोग करना इसके अन्तर्गत आता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा ग्रन्थों का वैदिक संहिताओं से घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि इनमें वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण तथा स्वरसंचार के नियम दिए गए हैं। शिक्षा का साहित्य पर्याप्त विशाल है। कुछ शिक्षाग्रन्थ विशिष्ट संहिताओं से सम्बद्ध हैं यथा भरद्वाज शिक्षा (तैत्तिरीय संहिता); याज्ञवल्क्य शिक्षा (वाजसनेयी संहिता); नारदीय शिक्षा (सामवेद); माण्डूकी शिक्षा (अथर्ववेद) आदि। कतिपय अन्य शिक्षाग्रन्थ किसी विशिष्ट संहिता से सम्बद्ध न होकर सामान्य हैं। इनमें पाणिनीय शिक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रचलित है। इसमें केवल 60 श्लोक हैं जिनमें शिक्षा के विभिन्न अंगों का अत्यन्त उपयोगी विवरण उपलब्ध होता है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता। सम्भवतः पाणिनि के मतानुयायी किसी वैयाकरण ने इसकी रचना की है। इस लघुकाय ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका आदि इस वेदांग के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। प्रकाशित शिक्षाग्रन्थों की संख्या 34 है।

2 कल्प—संस्कृत साहित्य में सूत्रशैली का सूत्रपात वस्तुतः इसी वेदांग से हुआ। सम्पूर्ण वेदांग साहित्य में 'कल्प' का स्थान प्राथमिक है। यज्ञीय विधियों का क्रमबद्ध प्रतिपादन इस वेदांग में किया गया। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इसी प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'वैदिक कर्मों का क्रमबद्ध व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र कल्प है' (कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्)। सायण ने भी 'कल्प' का लगभग यही अर्थ किया है—'यज्ञीय प्रयोगों का समर्थन तथा प्रतिपादन करने के कारण ये 'कल्प' हैं।'[2] ये कल्पसूत्र अपने विषय-प्रतिपादन में ब्राह्मणों और आरण्यकों से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण प्राचीनतम भी माने जाते हैं। प्रत्येक संहिता के अलग अलग कल्पसूत्र प्राप्त होते हैं। हिन्दू धर्म के समस्त कर्म, संस्कार, अनुष्ठान तथा रीति नीतियाँ प्रायः कल्पसूत्रों से ही उद्भूत होने के कारण सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के ये एकमात्र

---

2. पाणिनीय शिक्षा 32,33,34,35
3. सायण—ऋग्वेदभाष्यभूमिका—कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र, इति व्युत्पत्तेः।

अवलम्ब है। कल्पसूत्रों की आधारशिला कर्मकाण्ड है।

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र।

श्रौतसूत्र—श्रौत का अर्थ है-श्रुति से सम्बद्ध। इनका मुख्य विषय वेद प्रतिपादित विभिन्न महत्त्वपूर्ण यज्ञों के विधिविधानों को सूत्र रूप में क्रमबद्ध संकलित करना है। इन्हीं श्रौत सूत्रों में दक्षिण, आहवनीय तथा गार्हपत्य—इन तीनों अग्नियों की स्थापना का विधान भी प्राप्त होता है, जिनमें विभिन्न प्रकार के हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ सम्पन्न किए जाते थे। प्रमुख श्रौत सूत्र ये हैं। ऋग्वेदीय-आश्वलायन तथा शांखायन श्रौतसूत्र। कृष्णयजुर्वेदीय—बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज, मानव एवं वाराह श्रौतसूत्र। शुक्ल यजुर्वेदीय—कात्यायन श्रौतसूत्र। सामवेदीय—आर्षेय अथवा मशक, लाट्यायन, द्राह्यायन तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र। अथर्ववेदीय—वैतान श्रौतसूत्र।

गृह्यसूत्र—मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त कर्तव्यों तथा अनुष्ठानों का सांगोपांग वर्णन गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है। गृह्यसूत्र नित्यप्रति किए जाने वाले धार्मिक विधानों के प्रयोग, विभिन्न गृह्य यज्ञों तथा महोत्सवों की विधियों का वर्णन करते हैं। मनुष्य के विभिन्न सोलह संस्कारों, पंचमहायज्ञों, त्रिऋणों, सात पाकयज्ञों, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश आदि का विस्तृत विधान गृह्यसूत्रों में किया गया है। रीति एवं उपचार का वर्णन इनका मुख्य विषय है। संस्कारों के सम्बन्ध में जो तत्कालीन आचार नियमों की विविध सूची प्राप्त होती है उससे भारतीय जीवन की पवित्रता का भली-भाँति परिचय प्राप्त हो जाता है। प्रमुख गृह्यसूत्र ये हैं। ऋग्वेदीय—आश्वलायन, शांखायन तथा कौषीतकी अथवा शाम्बव्य गृह्यसूत्र। कृष्णयजुर्वेदीय—बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि, वैखासन, अग्निवेश्य, मानव, वाराह तथा काठक गृह्यसूत्र। शुक्लयजुर्वेदीय—पारस्कर गृह्यसूत्र। सामवेदीय—गोभिल, खादिर तथा जैमिनीय गृह्यसूत्र। अथर्ववेदीय—कौशिक गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्र—विभिन्न पारमार्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक कर्तव्यों, चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के कर्तव्यों, विवाह, उत्तराधिकार, प्रायश्चित्त आदि सामाजिक नियमों एवं राजधर्म, प्रजाधर्म आदि विषयों का विवेचन धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है। वस्तुतः धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों के ही एक अनुभाग के सदृश ज्ञात होते हैं। परवर्ती युग में इन्हीं धर्मसूत्रों से याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों का विकास हुआ। धर्मसूत्र सम्बन्धी बहुत सा साहित्य लुप्त हो गया है। प्रमुख धर्मसूत्र ये हैं। ऋग्वेदीय—वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्र। कृष्णयजुर्वेदीय—बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशि धर्मसूत्र। शुक्लयजुर्वेदीय—हारीत तथा शंख धर्मसूत्र। सामवेदीय—गौतम धर्मसूत्र।

शुल्वसूत्र—शुल्व का अर्थ होता है—नापने की डोरी। नाम के अनुरूप ही इन शुल्वसूत्रों में वेदी के लिए स्थान चुनने, नापने तथा रचना करने से सम्बद्ध विषयों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यज्ञवेदी निर्माण की रीति का विवेचन किए जाने के कारण शुल्वसूत्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। क्योंकि श्रौतसूत्रों में जिन याज्ञिक विधानों का विवरण दिया गया था, उनकी प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान एवं विनियोग शुल्वसूत्रों के बिना हो ही नहीं सकता। ये शुल्वसूत्र भारतीय ज्यामिति

के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल ने शुल्वसूत्रों की वैज्ञानिक महत्ता की घोषणा करते हुए कहा—'इन सूत्रों में रेखागणित सम्बन्धी ज्ञान बहुत आगे बढ़ा हुआ पाया जाता है। वस्तुतः शुल्वसूत्र ही भारत के गणितशास्त्रीय सर्वप्राचीन ग्रंथ कहे जा सकते हैं।'[1] प्रमुख उपलब्ध शुल्वसूत्र ये हैं। कृष्णयजुर्वेदीय—बौधायन, आपस्तम्ब तथा मानव शुल्वसूत्र। शुक्लयजुर्वेदीय—कात्यायन शुल्वसूत्र।

3 व्याकरण—जिस शास्त्र के द्वारा शब्दों-पदों की मीमांसा की जाती है, जिसके द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया जाता है, वह व्याकरण शास्त्र कहलाता है। पाणिनीय शिक्षा ने व्याकरण को 'वेद पुरुष का मुख' कहा था—मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर में मुख अभिव्यक्ति एवं विश्लेषण का साधन है उसी प्रकार व्याकरण भी पद-पदार्थ एवं वाक्य-वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति तथा प्रकृति प्रत्यय के विश्लेषण का साधन है। इसीलिए व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक किया गया है।

व्याकरण वेदांग के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए आचार्य वररुचि ने व्याकरण अध्ययन के पाँच प्रमुख प्रयोजन कहे।[2] आचार्य पतंजलि ने इन पाँच प्रयोजनों के साथ साथ तेरह और अवान्तर प्रयोजनों का भी विस्तृत उल्लेख किया। वे पाँच प्रमुख प्रयोजन संक्षेपतया इस प्रकार विवेचित हैं। **रक्षा**—अर्थात् वेदमन्त्रों की रक्षा करना व्याकरण का एक प्रयोजन है। **ऊह**—यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार वेदमन्त्रों के पदों का भिन्न भिन्न विभक्तियों तथा भिन्न भिन्न लिंगों में कल्पना करना ही ऊह है, और व्याकरण ज्ञान के द्वारा ही यह सम्भव है। **आगम**—श्रुतिप्रामाण्य के कारण व्याकरण अध्ययन किया ही जाना चाहिए। **लघु**—संक्षेप में समस्त शब्द ज्ञान कराना व्याकरण का एक और प्रयोजन है। **असन्देह**—पदों के अर्थ के सम्बन्ध में सन्देह का निराकरण भी व्याकरण ज्ञान से ही सम्भव है।

वेदों से प्रारम्भ करके व्याकरण की प्रशंसा निरन्तर स्थल स्थल पर उपलब्ध होती है। विद्वानों ने ऋग्वेद के ही कतिपय मन्त्रों का व्याकरणपरक अर्थ किया है।[3] गोपथ ब्राह्मण (1/24) में स्पष्टतया प्राचीन व्याकरण के विषय का निर्देश प्राप्त होता है। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, प्रातिपदिक, धातु, प्रत्यय, लिंग, वचन, विभक्तिआदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्द ब्राह्मणसाहित्य में बहुलतया निर्दिष्ट हैं।

किन्तु इस वेदांग के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है। पाणिनि से पूर्व भी अनेक वैयाकरण हुए थे। स्वयं पाणिनि ने आपिशलि, काश्यप आदि दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों में महेश्वर, व्याडि आदि पन्द्रह वैयाकरणों के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि से पूर्व 'ऐन्द्र

---

1. मैक्डानल—संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग 1 (हिन्दी), पृष्ठ 245
2. रक्षोहागमलध्वसन्देहा: प्रयोजनम्।
3. ऋग्वेद 4/58/6; 10/71/1; यजुर्वेद 19/77

व्याकरण' की सत्ता के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। महर्षि शाकटायन के ऋक् तन्त्र (पृष्ठ 3) में उल्लेख है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को व्याकरण का कथन किया। बृहस्पति ने इन्द्रको,इन्द्र ने भरद्वाज को,भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को व्याकरण का कथन किया। पंतजलि ने भी महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में लिखा है कि बृहस्पति वक्ता थे और इन्द्र अध्येता। दिव्य सहस्त्र वर्षों का अध्ययनकाल था,फिर भी अन्त प्राप्त न हो सका। इन निर्देशों से यह स्पष्ट है कि इन्द्र ने व्याकरणगन्थ की रचना की थी। किन्तु वे सारे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि नेअष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ में संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत किया है। इसमें आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में लगभग चार हज़ार अल्पाक्षरसूत्र हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कात्यायन ने पाणिनि द्वारा अव्याख्यात शब्दों की व्याख्या करने के लिए वार्तिकों की रचना की। तदनन्तर पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों और कात्यायन के वार्तिकों पर महाभाष्य लिखा। इसलिए संस्कृत व्याकरण के ये मुनित्रय माने जाते हैं।

4 निरुक्त—इस वेदांग में वैदिक शब्दों के निर्वचन की पद्धति दी गई है। सायणाचार्य ने निरुक्त शक्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'अर्थ के ज्ञान के लिए स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है, वही निरुक्त कहलाता है' (अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र तद् निरुक्तम्) । यह निरुक्त वेदांग निघण्टु की टीका है। 'निघण्टु' में वेद के कठिन शब्दों को एकत्र प्रस्तुत किया गया है। निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहलाते हैं जिनमें विभिन्न पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं। यथा पृथिवीवाचक 21 शब्द; मेघवाचक—30 शब्द; वाणीवाचक—57 शब्द,जलवाचक—100 शब्द। चतुर्थ अध्याय नैगम काण्ड अथवा ऐकपदिक काण्ड कहलाता है जिसमें ऐसे कठिन तथा अस्पष्ट वैदिक शब्दों का संग्रह है,जिनमें प्रकृति प्रत्यय का यथार्थ रूप में पता नहीं चलता। पंचम अध्याय दैवत काण्ड कहलाता है जिसमें देवताओं के रूप और स्थान वाचक शब्द हैं।

इसी निघण्टु के ऊपर भाष्यरूप में निरुक्त प्राप्त होता है। निरुक्तकार अनेक थे। यास्क ने अपने निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मतों का उल्लेख किया है। यास्क कृत निरुक्त पर दुर्गाचार्य ने जो वृत्ति लिखी,उसमें चौदह निरुक्तों का उल्लेख किया गया है। किन्तु महर्षि यास्क कृत निरुक्त के अतिरिक्त अन्य कोई निरुक्त उपलब्ध नहीं है। इसी निरुक्त के अनुशीलन सेअन्य निरुक्तकारों के विशिष्ट मतों का ज्ञान अवश्य हो जाता है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं। प्रथम दो अध्याय भूमिका रूप हैं। तृतीय अध्याय में निघण्टु के नैघण्टुक काण्ड के शब्द पर्यायों की व्याख्या है। चतुर्थ से षष्ठ अध्याय में निघण्टु के नैगम काण्ड के शब्दों की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण दिया हुआ है। निरुक्त के सातवें से बारहवें—छह अध्यायों में निघण्टु के दैवतकाण्ड में दिए गए देवताविषयक शब्दोंका विवेचन है। इसका एक परिशिष्ट भी तेरहवें अध्याय के नाम से उपलब्ध है जिसमें अक्षर,सोम,जातवेदस् आदि का वर्णन है।

निरुक्त में वैदिक शब्दों की निरुक्ति दी गई है । निरुक्ति शब्द का अर्थ ही है—व्युत्पत्ति। निरुक्तकार के अनुसार सारे शब्द किसी न किसी धातु से बने होते हैं, अत: निरुक्त

में धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों का निर्देश करते हुए शब्दों की व्युत्पत्ति दिखाई गई है। स्वयं यास्क ने निरुक्त के प्रतिपाद्य रूप में पाँच विषयों का कथन किया है—वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धात्वर्थसम्बन्ध।[1]

अतः वेदांग के रूप में निरुक्त की महत्ता स्पष्ट है। वर्तमान युग में पाश्चात्य विद्वानों ने जिस भाषाविज्ञान तथा अर्थविज्ञान का विकास एवं प्रचार किया है, वस्तुतः उसका प्राचीनतम तथा प्रामाणिक ग्रन्थ निरुक्त ही है।

5 छन्द—पाणिनीय शिक्षा में छन्द वेदपुरुष के चरण कहे गए थे। वेदाध्ययन तथा वेदमन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। वैदिक गद्य भी छन्दोयुक्त ही माना जाता है। प्राचीन आर्षपरम्परा के अनुसार 'छन्द के बिना वाणी ही उच्चरित नहीं होती।[2] अतः वेदार्थ जानने के लिए छन्दः वेदांग का महत्त्व है। वेद के अध्येताओं में यह धारणा बद्धमूल है कि मन्त्र के ऋषि, देवता तथा छन्द को जाने बिना मन्त्र पाठ अथवा यजन याजन सर्वथा निरर्थक होता है।

महर्षि यास्क ने छद् (ढक देना) धातु से छन्दः शब्दकी व्युत्पत्ति सिद्ध की, अर्थात् छन्द वेदों को ढकने वाले साधन हैं, वेदों के आवरण हैं। वैदिक छन्दों की यह निजी विशेषता रही है कि वे केवल अक्षरों की गणना पर नियत रहते हैं, गुरु लघु वर्णों के किसी क्रम का कोई बन्धन इसमें नहीं होता। प्रधान वैदिक छन्द सात कहे गए हैं। गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप्, बृहती, जगती, पंक्ति तथा त्रिष्टुप। शेष वैदिक छन्द इन्हीं के अवान्तर भेदों के रूप में प्राप्त होते हैं।

इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ आचार्य पिंगल रचित छन्दःसूत्र है। यह ग्रन्थ सूत्र रूप में है और आठ अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के पूर्व भाग में वैदिक छन्दों का विवेचन है तथा उत्तर भाग में लौकिक छन्दों का विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त भी प्राचीन छन्दोविषयक सामग्री अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के तीन (16 से 18) पटलों में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का विस्तृत विवरण है। सामवेद के निदानसूत्र में वैदिक छन्दों के नाम और लक्षण दिए गए हैं। कात्यायन कृत छन्दोऽनुक्रमणी में ऋग्वेद में प्रयुक्त सारे छन्दों के नाम दिए गए हैं तथा कात्यायन के द्वारा ही रचित सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के छन्द का निर्देश अत्यन्त प्रामाणिकता से किया गया है।

6 ज्योतिष—ज्योतिष वेदांग का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। यज्ञानुष्ठान के लिए उपयुक्त समय एवं ग्रहज्ञान के लिए ज्योतिष की बहुत आवश्यकता है। ऐसे अनेक पुष्ट प्रमाण मिलते हैं कि इस वेदांग का निर्माण वैदिक काल में ही हो गया था। ऋग्वेद में ऐसे अनेक प्रसंग

---

1. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
   धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥
2. दुर्गाचार्य, निरुक्तवृत्ति 7/2 – नाच्छन्दसि वागुच्चरति।
   भरत, नाट्यशास्त्र 14/45 – छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्।

मिलते हैं जिनसे ऋषियों का ज्योतिष ज्ञान व्यक्त होता है। मल मास, सूर्यग्रहण की रीति, सूर्य के दक्षिणावस्थित होने पर वर्षा, विभिन्न ऋतुओं का उल्लेख आदि ऐसे ही प्रसंग है। यज्ञ विधान में ज्योतिष का महत्त्व सर्वमान्य है। यज्ञ सम्पादन के लिए शुद्ध समय नितान्त आवश्यक है। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदि सभी समयखण्डों के साथ भिन्न-भिन्न वैदिक यज्ञों के विधान की व्यवस्था थी। विविध ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में अग्न्याधान का विधान किया गया था। ज्योतिष के इसी महत्त्व के कारण विद्वानों का यह आग्रह था कि 'जो व्यक्ति ज्योतिष को भली-भांति जानता है, वही यज्ञ को यथार्थ रूप में जानता है।'[1]

इस वेदांग का सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ वेदांगज्योतिष है, जिसके रचयिता लगध है। इनका समय तथा स्थान ठीक ठीक पता नहीं चलता। यह वेदांग ज्योतिष ग्रन्थ दो वेदों से सम्बद्ध है। ऋग्वेद से सम्बद्ध ग्रन्थ आर्च ज्योतिष है जिसमें 36 श्लोक है; तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध याजुष ज्योतिष है जिसमें 43 श्लोक हैं। दोनों ग्रन्थों में बहुत से श्लोक समान हैं।

प्राचीन ऋषियों ने अंकगणित, रेखागणित तथा बीजगणित को ज्योतिष के अन्तर्गत ही स्वीकार किया था। वस्तुतः शतोत्तर गणना एवं शून्य इसी वेदांग के अन्तर्गत आर्यों की संसार को महती देन है।

वेद तथा वेदांगों के इस विशाल साहित्य के सम्यक् परिज्ञान के लिए परिवर्ती काल में एक और विस्तृत साहित्य की रचना हुई जिसे परिशिष्ट साहित्य कहा जाता है। उसका भी संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

अनुक्रमणी

वेद मन्त्रों के समुचित अर्थज्ञान, स्पष्ट उच्चारण तथा यज्ञ के कालनिर्णय आदि विभिन्न कारणों से छह वेदांगों के साहित्य की रचना हुई थी। कालान्तर में वेद की रक्षा एवं तद्गत अवान्तर विषयों के ज्ञान के लिए एक और भी प्रकार का साहित्य रचा गया, जिसे 'अनुक्रमणी' कहा जाता है। इन अनुकमणियों में वेदमन्त्र, ऋषि, छन्द, देवता आदि की सूचियाँ दी गई हैं। यह साहित्य वेदांग में परिगणित नहीं होता, किन्तु वैदिक साहित्य परम्परा के शुद्ध स्वरूप के बने रहने में अनुक्रमणी साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है। वेदों के प्रत्येक सूक्त में प्रत्येक ऋचा के प्रथम अक्षर के साथ साथ उस ऋचा में प्रयुक्त मन्त्रों की गणना, ऋषिपरिवार का नाम, देवता का नाम तथा छन्द आदि विभिन्न ज्ञेय विषयों की सूची अनुक्रमणियों में उपलब्ध होती है। प्रत्येक वेद की अलग अलग अनुक्रमणियाँ प्राप्त होती हैं।

---

1. वेदांग ज्योतिष—श्लोक 3 –
वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, जो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

इस क्षेत्र में महर्षि शौनक ने सर्वाधिक-दस-ग्रन्थ लिखे। ये दसों ग्रन्थ ऋग्वेद से ही सम्बद्ध हैं। (1) आर्षानुक्रमणी, (2) छन्दोऽनुक्रमणी, (3) देवतानुक्रमणी, (4) अनुवाक् अनुक्रमणी, (5) सूक्तानुक्रमणी (6) ऋग्विधान, (7) पादविधान, (8) बृहद्देवता, (9) प्रातिशाख्य तथा (10) शौनक स्मृति। इनमें से प्रथम पाँच ग्रंथ अनुक्रमणी हैं। 'बृहद्देवता' भी अनुक्रमणी साहित्य की एक बहुत महत्त्वशाली रचना है जिसमें ऋग्वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में प्राचीन और प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की गई है। इसमें आठ अध्याय तथा 1200 पद्य हैं। अध्याय भी वर्गों में विभक्त हैं। ऋग्वेद के समस्त आवश्यक विषयों के ज्ञान के लिए कात्यायन द्वारा रचित सर्वानुक्रमणी भी अत्यन्त प्रामाणिक और प्रसिद्ध है। यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाली एक अनुक्रमणी का नाम शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी है। इसके रचयिता भी कात्यायन ही हैं। सामवेद की अनुक्रमणी का प्रयोजन सिद्ध करने वाले भी अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। साम सर्वानुक्रमणी तथा उपग्रन्थ सूत्र कात्यायन विरचित माने जाते हैं। सामवेद के अन्य प्रसिद्ध परिशिष्ट ग्रन्थ इस प्रकार हैं—कल्पानुपद् सूत्र, अनुपद सूत्र, पंचविधान सूत्र, ऋक्तन्त्र, साम सप्तलक्षण तथा सामविधान। अथर्ववेद के सर्वाधिक परिशिष्ट ग्रन्थ हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबर ने अथर्ववेद के 74 परिशिष्टों का संकलन प्रकाशित किया था। इन में अनुक्रमणी साहित्य की दृष्टि से पंचपटलिका तथा वृहत्सर्वानुक्रमणी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वृहत्सर्वानुक्रमणी में अथर्ववेद के प्रत्येक काण्ड के सूक्त, मन्त्र, देवता तथा ऋषियों का विवरण है।

अनुक्रमणी न होने पर भी परिशिष्ट ग्रन्थों की दृष्टि से दो ग्रन्थों का उल्लेख करना आवश्यक है। एक है महर्षि शौनक रचित 'चरणव्यूह सूत्र' तथा दूसरा है द्याद्विवेद रचित 'नीतिमंजरी'। चरणव्यूह सूत्र में पाँच खण्ड हैं जिनमें क्रमशः एक एक खण्ड में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की शाखाओं का विवरण है तथा पाँचवें (अन्तिम) खण्ड में फलश्रुति है। नीतिमंजरी में ऋग्वेद के समस्त आख्यानों और उनसे प्राप्त होने वाले व्यावहारिक उपदेशों का चित्ताकर्षक संकलन प्राप्त होता है।

प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य ग्रन्थ किसी विशिष्ट वेदांग के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किए जाते, किन्तु कई वेदांगों से इनका घनिष्ट सम्बन्ध है। अनेक विद्वानों ने शिक्षा वेदांग के अन्तर्गत ही प्रातिशाख्यों की भी विवेचना कर दी है। प्रातिशाख्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में एक श्लोक प्राप्त होता है—

शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्॥

अर्थात् शिक्षा, छन्द तथा व्याकरण के द्वारा सामान्य नियमों का कथन किया जाता है, किन्तु वे नियम संहिता की विशिष्ट शाखा में किस प्रकार के हैं—यह प्रातिशाख्य शास्त्र बतलाया है। अतः इस दृष्टि से प्रातिशाख्य का क्षेत्र शिक्षा, छन्द और व्याकरण—इन तीन वेदांगों तक फैला हुआ है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ इन तीनों वेदांगों के नियमों का विशेष रूप में भी व्यवस्थापन करते हैं और उनसे भिन्न नियमों का विधान भी करते हैं। प्रत्येक संहिता की हर प्रमुख शाखा का अपना अपना निजी प्रातिशाख्य है। सम्भवतः इसी कारण इन ग्रन्थों का नाम भी प्रातिशाख्य पड़ा। व्याकरण शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से और वैदिक संहिताओं के पाठ और स्वरूप की रक्षा की दृष्टि से इन प्रातिशाख्यों का बहुत महत्त्व है।

वस्तुतः प्रातिशाख्य नियमों का वह प्रकार है जिनके द्वारा पदपाठ की सहायता से संहिता पाठ का एक निश्चित स्वरूप निर्धारित किया जाता है। पद पाठ में मन्त्र का प्रत्येक पद अपने मौलिक रूप में अलग अलग लिखा जाता है, उनमें कोई सन्धि एवं समास नहीं होता। किन्तु संहिता पाठ में सन्धि एवं समास करके ही मन्त्र लिखा अथवा बोला जाता है। प्रातिशाख्य मुख्यतया यही प्रतिपादित करता है कि पदपाठ को किस प्रकार संहिता पाठ में परिवर्तित किया जाए। इस प्रतिपादन की सरणि में ही ध्वनि नियम, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वर विधान, उदात्तादि उच्चारण विधान, सन्धि, बल, मात्रा तथा वर्णों के लघु अथवा गुरु होने के विभिन्न नियम भी इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मिलते हैं। यही कारण है कि प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना के बाद से सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी संहिता पाठों के उच्चारण में एक भी शब्द, एक भी मात्रा अथवा एक भी स्वर में परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं रही और संहिता पाठ अपने मूल रूप में यथावत् सुरक्षित है।

संहिताओं की प्रत्येक शाखा की दृष्टि से प्रातिशाख्य ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक होनी चाहिए थी, किन्तु सम्प्रति प्रत्येक संहिता के एक-एक अथवा दो-दो प्रातिशाख्य ही प्राप्त होते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

ऋक् प्रातिशाख्य—महर्षि शौनक इसके रचयिता हैं। इसे पार्षद सूत्र भी कहा जाता है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण में इस प्रातिशाख्य की मूल सामग्री उपलब्ध होती है। ऋक् प्रातिशाख्य में तीन अध्याय हैं जिन्हें 18 पटलों में विभक्त किया गया है। एक से चौदह पटल तक वर्णादि विचार है तथा अन्तिम चार पटलों (15 से 18) में विभिन्न छन्दों का विवेचन है। दैवतब्राह्मण के पश्चात् छन्दों की दृष्टि से यही प्रातिशाख्य प्राचीन माना जाता है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य—कात्यायन इसके रचयिता हैं। जैसा कि इसने नाम से ही ज्ञात होता है, यह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा का प्रातिशाख्य है। अतः इसी का दूसरा नाम शुक्लयजुः प्रातिशाख्य भी है। इसमें आठ अध्याय हैं जिनमें वर्णादि पर विचार किया गया है। इस प्रातिशाख्य और पाणिनि अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में अद्भुत साम्य है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—यह कृष्ण यजुर्वेद का प्रसिद्ध प्रातिशाख्य है। इसमें दो प्रश्न तथा बारह अध्याय हैं जो पुनः अवान्तर भेदों में विभक्त हैं।

सामप्रातिशाख्य अथवा पुष्पसूत्र—यह सामवेद का मुख्य प्रातिशाख्य है। इस ग्रन्थ में 10 प्रपाठक हैं।

सामतन्त्र—यह भी सामवेद से सम्बद्ध है किन्तु विद्वान् इसे मूलतः व्याकरण ग्रन्थ मानते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य की भांति सामतन्त्र की सामग्री संहितोपनिषद् ब्राह्मण पर आधारित है।

अथर्व प्रातिशाख्य—इसी नाम के दो भिन्न भिन्न प्रातिशाख्य प्रकाशित हो चुके हैं।

शौनकीय चतुरध्यायिका—यह भी अथर्ववेद का प्रातिशाख्य है। इसके नाम के अनुसार ही इसमें चार अध्याय हैं।

जैसा स्पष्ट किया जा चुका है, प्रातिशाख्य ग्रन्थों में शिक्षा, छन्द एवं व्याकरण से सम्बद्ध विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। संहिता पाठों को मूलरूप में सुरक्षित रखने का सर्वाधिक श्रेय इन्हीं प्रातिशाख्य ग्रन्थों को प्राप्त है।

■

6

पुराण

वैदिक साहित्य के उपरान्त हिन्दू धर्म को संस्कृत के जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, उनमें पुराणों का स्थान अग्रगण्य है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में इन ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं श्रवण-मनन अत्यन्त श्रद्धापूर्वक होता आया है। सम्प्रति भारतीय संस्कृति के जो प्रमुख तत्त्व माने जाते हैं—वेद, शास्त्र, ईश्वर, वर्णाश्रम धर्म, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, परलोक की सत्ता आदि, उन सभी तत्त्वों को भारतीय जनमानस में वज्रलेपोपनद्ध कर देने का श्रेय इन पुराण ग्रन्थों को ही है। सामान्य भारतीय के हृदयतल में ज्ञान, भक्ति, श्रद्धा, वैराग्य, सदाचरण तथा धर्मपरायणता के उत्तम तत्त्वों का संस्कार पुराणों ने ही प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से संस्कृत के वैदिक साहित्य की समाप्ति करने से पूर्व ही इन पुराणों का संक्षिप्त अवलोकन प्रसंगोपात्त ही है।

अर्थ—पुराण शब्द का शाब्दिक अर्थ है—प्राचीन, पुराना। इन ग्रन्थ विशेषों को यह नाम मिलने के दो कारण हो सकते हैं। या तो समय की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीनता के कारण ये पुराण कहलाए और या प्राचीन कथाओं का संकलन होने के कारण इन्हें पुराण कहा गया। विभिन्न स्थलों पर पुराण शब्द की अनेक भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। यास्काचार्य के अनुसार जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है उसे पुराण कहते हैं।[1] सायण ने संसार की उत्पत्ति और विकास क्रम के बोधक ग्रन्थों को पुराण कहा,[2] तो महाभारत में प्राचीन आख्यानों को ही पुराण कहा गया—पुराणमाख्यानं पुराणम्। वायु पुराण ने 'पुराण' के दो अर्थ प्रस्तुत किए—पुराण वह है जो प्राचीन समय में सजीव था,[3] तथा प्राचीन परम्परा का कथन करने वाले ग्रन्थ पुराण हैं।[4] ब्रह्माण्ड

---

1. निरुक्त 3/19 – पुरा नवं भवति
2. सायण—ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य भूमिका—जगत: प्रागनुवस्थानुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्।
3. वायुपुराण 1/203 – यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
4. वायुपुराण 1/2/53 – पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम।
   पद्मपुराण 5/2/33 – पुरा परम्परया वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्।

पुराण के अनुसार—प्राचीन काल में ऐसा हुआ, अथवा जो बहुत प्राचीन काल में हुआ—इस प्रकार पुराण शब्द की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है ।[1] इन सारी व्युत्पत्तियों से पुराणों की प्राचीनता और इनका आख्यान संग्रह स्वरूप निःसन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है ।

उपनिषत्काल तक एक संयुक्त नाम इतिहास पुराण प्रसिद्ध हो चुका था । किन्तु प्राचीन काल में घटने वाली घटना के अर्थ के रूप में भी इतिहास शब्द का प्राचीन ग्रन्थों में प्रयोग हुआ था ।[2] समयान्तर से पुराणों में भी इतिहास शब्द इतिवृत्त का वाचक बन गया । क्रमशः कल्पनाजन्य कथा के लिए पुराण शब्द और वास्तविक घटना के लिए इतिहास शब्द व्यवहृत होने लगा । और दोनों शब्दों का अर्थ सीमित रह गया ।

रचनाकाल—पुराणों की रचना कब हुई, इसका निर्धारण कर सकना अत्यन्त कठिन रहा है । इसके अनेक कारण हैं । पुराण ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है अतः काल के सुदीर्घ प्रवाह में ये ग्रन्थ रचे गए होंगे । द्वितीयतः, एक एक पुराण में श्लोक संख्या सहस्रों तक पहुँचती है । इतनी दीर्घ रचना एक व्यक्ति के द्वारा एक निश्चित अवधि में हो पाना असम्भव प्राय ही है अतः एक एक पुराण को वर्तमान रूप में स्थिर होने में कई शतियाँ लगी होंगी । इस दृष्टि से भी इन ग्रन्थों का रचनाकाल निश्चय कर पाना बहुत बड़ी समस्या है । फिर भी शतशः पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने भिन्न भिन्न तर्कों के आधार पर पुराणों का समय निर्धारण करने का प्रयास किया है । विभिन्न अन्तरंग तथा बाह्य प्रमाणों के आधार पर 600 ईसा पूर्व से लेकर 500 ईस्वी सन् तक इन पुराणों की रचना का समय निश्चित होता है । यों तो ऋग्वेद में ही 'पुराण' शब्द प्राप्त होता है तथापि अथर्ववेद एवं उपनिषत्काल में तो पुराण ग्रन्थों के स्पष्ट निर्देश ही प्राप्त होते हैं । अथर्ववेद में उच्छिष्ट नामक परम पुरुष से चारों वेदों के साथ-साथ पुराण की उत्पत्ति का भी निर्देश है ।[3] छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार तथा नारद के वार्तालाप में तत्कालीन प्रचलित विषयों-ग्रन्थों में पुराण भी उल्लिखित हैं ।[4] गौतम धर्मसूत्र (6ठी शती ईसा पूर्व), बौधायन धर्मसूत्र (5वीं शती ईसा पूर्व), आपस्तम्ब धर्मसूत्र (3री शती ईसा पूर्व) तथा कौटिल्य (4थी शती ईसा पूर्व) आदि ने विभिन्न पुराणों से अनेक उद्धरण

---

1. ब्रह्माण्ड पुराण 1/1/173 – यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतद् पुराण तेन तत्स्मृतम् ।
   निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
2. निरुक्त 2/3/1 – निदानभूतः इति ह एवमासीत् इति य उच्यते स इतिहासः ।
3. अथर्ववेद 11/7/24 – ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
   उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥
   अथर्ववेद 15/6/11,12 – तमितिहासश्च पुराणं च गाथांच नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ।
   इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां
   च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥
4. छान्दोग्य उपनिषद् 7/1/1 – ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम् ।
   चतुर्थमितिहास पुराणं पंचम वेदानां वेदम् ॥

दिए हैं। कौटिल्य ने राजकर्मचारियों में 'पौराणिक' का स्थान अन्यतम माना है। कुमार्ग पर चलने वाले राजपुत्रों को पुराणों की शिक्षा से सन्मार्ग पर लाया जा सकता है—ऐसा पुराणों का कथन है। महाभारत के वक्ता सौति पुराणों में निष्णात थे। उनके पिता लोमहर्षण भी पुराणों के विशेष ज्ञाता थे। महाभारत के खिल पर्व-हरिवंश-और वर्तमान वायुपुराण में अनेक अंशों में प्रभूत साम्य है। इन सब तर्कों के आधार पर पुराणों के समय की पूर्व सीमा 600 ईसा पूर्व के लगभग स्वीकार की जाती है। विष्णु पुराण में मौर्यवंशी राजाओं (326-180 ईसा पूर्व) का, मत्स्य पुराण में आन्ध्रवंशी राजाओं (225 ईस्वी) का तथा वायुपुराण में गुप्तवंशी राजाओं का वर्णन मिलता है; किन्तु विभिन्न पुराणों के राजवंश वर्णनों में राजा हर्षवर्धन तथा 600 ईस्वी के उपरान्त होने वाले राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता। अतः विद्वानों के अनुसार पंचम शती ईस्वी अथवा उससे कुछ ही पूर्व पुराणों के समय की अपर सीमा है।

पुराणों की प्राचीनता के सम्बन्ध में महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मत को उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा—'वेद के ही दो विभाग हैं—पुराण वेद ओर यज्ञवेद। आज व्यवहार में यज्ञवेद ही वेद के नाम से अभिहित हैं, और पुराणवेद को केवल पुराण कहा जाता है। इनमें अन्तर इतना ही है कि वेदनामधारी यज्ञवेद के अक्षर, पद, वाक्य, आनुपूर्वी आदि सबकी अत्यन्त दृढ़ता के साथ रक्षा की गई; क्योंकि उन मन्त्रों का उच्चारण यज्ञों में किया जाता था। अतः कर्मकाण्डियों को प्रत्यक्षर (शुद्धता के साथ) कण्ठाग्र करने की आवश्यकता थी और इसकी परम्परा आज भी जीवित है।—पर पुराण विद्या केवल समझने की विद्या मानी गई थी, अतः उसके पदविन्यास, वाक्य रचना तथा आनुपूर्वी आदि पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया और उसके केवल अर्थ की रक्षा की गई।—पुराणों का जो रूप आज उपलब्ध है वह कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा, लोगों की सुविधा को ध्यान में रखकर, अपने ढंग से नए रूप में संगठित हुआ है।'[1]

प्रामाणिकता—आपाततः कथा साहित्य के सदृश जान पड़ने वाले इन पुराणों के प्रति इस आधुनिक युग में बहुधा अविचारित कथन ही कहे गए। पुराणों के प्रति अनास्था का यह वाद केवल तर्क को बुद्धि मानने वाले पाश्चात्य जगत् से प्रारम्भ हुआ। संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वाले प्रारम्भिक पाश्चात्य मनीषी जन वेदों तथा लौकिक साहित्य के कतिपय उत्कृष्ट ग्रन्थों पर इतने मुग्ध हो गए कि पुराणों का वास्तविक आकलन किए बिना ही उन्हें कपोल कल्पना, अतिशयोक्ति रचना आदि की संज्ञाओं से विभूषित कर डाला। भारतीय मनीषा में पुराणों के प्रति यह अनादर का भाव तो नहीं था किन्तु पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करके ही स्वयं को उन्नतिशील मानने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी पुराणों को अतिरंजित कल्पनायुक्त वर्णन ग्रन्थ ही स्वीकार किया। पुराणों

---

1. चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा—पुराण परिशीलन—प्रस्तावना पृष्ठ 3—7

की कथाओं के लिए एक नवीन अभिधान प्रचलित हुआ—मिथक-अथवा पौराणिक कथा; जिसका सीधा अर्थ था कल्पना प्रसूत किन्तु जनमानस में गहरे पैठी असम्भाव्य कथा। अपने ही देश के एक विस्तृत, विशाल तथा अगाध पाण्डित्यपूर्ण साहित्य के प्रति यह दृष्टि कदापि उचित नहीं थी।

किन्तु पुराणों के प्रति पाश्चात्यों एवं भारतीयों—सभी की उक्त धारणा शीघ्र ही परिवर्तित भी होने लगी। पुराणों की प्रामाणिकता के प्रमाणों ने इस अनास्था के भाव को अधिकांशतया ध्वस्त कर दिया।

भारतीय साहित्य की अजस्र धारा में पुराण वेदों के ही व्याख्यान ग्रन्थ हैं। वेदों का विषय गम्भीर था, विषय प्रतिपादन की प्रक्रिया भी जटिल एवं दुरूह थी तथा समय के क्रम में उनकी शब्दावली भी दुरूह बन गई। वेदों को सम्यग्तया समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों, निरुक्त, वेदांगों आदि की रचना होती गई; पर ये ग्रन्थ स्वयं में ही ऐसे कठिन एवं सूत्रात्मक हो गए कि उनसे वेद को समझना और भी दुष्कर हो गया। पुराणों ने विभिन्न भावों, सरल भाषा, अलंकारयुक्त वर्णनों तथा रोचक कथाओं के द्वारा यह दुष्कर कार्य सिद्ध कर दिया। महाभारत कार ने इसी कारण यह स्पष्ट घोषणा की कि 'इतिहास और पुराण के द्वारा वेद को समझना चाहिए।'[1]

पुराणों की प्रामाणिकता के कारण ही पुराणों को वेद सदृश अथवा पंचम वेद कहा गया है। कतिपय पुराण ग्रन्थों में तो पुराणों को वेद से भी प्राचीन कहा गया है;[2] किन्तु यदि उनकी इस आत्मप्रशंसा को छोड़ दें तो भी विभिन्न ग्रन्थों में उनकी प्रमाणिकता का स्पष्ट कथन उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण ने पुराणों को वेद सदृश माना है।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्ट कहता है 'जैसे सभी वेद उस परब्रह्म के निःश्वास हैं, वैसे ही पुराण भी ईश्वर के निःश्वास रूप ही हैं।'[4] छान्दोग्य उपनिषद् एवं न्याय दर्शन समस्त पुराणों को पंचम वेद की संज्ञा से विभूषित करता है।[5] वाल्मीकि रामायण के अनुसार पुराणों में भूत, भविष्य एवं वर्तमान की सभी घटनाओं का वर्णन पाया जाता है।[6] महाभारत के अनुसार पुराणरूपी पूर्णचन्द्र से वेदरूपी चन्द्रिका निःसृत होती है।[7] याज्ञवल्क्य

---

1. महाभारत 1/1/267, 268 – इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
   बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
2. मत्स्य पुराण 53/3 – पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
   अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।
   श्रीमद् भागवत 3/12/39 – इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।
   सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥
3. शतपथ ब्राह्मण 13/4/3/12-13
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/10 – अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो
   यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः इतिहासः पुराणं—
5. छान्दोग्य उपनिषद् 7/1/1
   न्यायदर्शन 4/1/62 पर वात्स्यायन भाष्य—इतिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदः।
6. वाल्मीकि रामायण 1/9/1
7. महाभारत 1/1/86

प्रभृति मनीषियों ने विद्याओं की परिगणना में पुराणविद्या का भी नामोल्लेख किया है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म शास्त्र, छह वेदांग एवं चार वेद—ये चौदह विद्या तथा धर्म के स्थान हैं। ये सारे विभिन्न उद्धरण देने का अभिप्राय यही है कि पुराणों की प्रमाणिकता सन्देह से परे है।

पुराणों का स्वरूप अथवा प्रतिपाद्य विषय—आध्यात्मिक दृष्टि से सभी पुराणों का प्रतिपाद्य एक ही विषय अथवा प्रयोजन है कि सरलतया श्रेयः सम्पादन करके मनुष्य को भगवत्प्राप्ति करा सकें। तथापि पुराणों के कुछ निजी प्रतिपाद्य विषय हैं जिनकी उपस्थिति होने पर ही उस ग्रन्थ की पुराण संज्ञा होती है। पुराणों की परिभाषा अथवा लक्षण से सम्पन्न एक ही श्लोक थोड़े से शब्द परिवर्तन के साथ अनेक पुराणों में प्राप्त होता है—'पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित—ये पाँच लक्षण होते हैं।'[1] अर्थात् ये ही पाँच विषय पुराणों के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। सर्ग का अर्थ है जगत् तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि। सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टिकरण को प्रतिसर्ग कहा जाता है। वंश का अर्थ है सृष्टि के प्रारम्भ की देवों तथा ऋषियों की वंशावली। मन्वन्तर के अन्तर्गत मनुओं की संख्या, प्रत्येक मनु का समय तथा उतने समय में घटित हुई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आती हैं। सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का क्रमिक इतिहास वंशानुचरित कहलाता है।

पुराणों के इन पंच लक्षणों का कथन लगभग सभी पुराणों में प्राप्त है किन्तु भागवत पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में दस लक्षणों का कथन किया गया है।[2] भागवत में एक अन्य स्थल पर दस लक्षणों में कुछ के नामान्तर परिगणित कराए गए हैं।[3] एक तालिका के द्वारा इन्हें स्पष्ट किया जा

---

1. विष्णु पुराण 3/6/24–सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत्॥
2. श्रीमद्भागवत 2/10/1-2– अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चांजसा॥

ब्रह्मवैवर्त पुराण—कृष्णजन्मखण्ड 133/8-9–
सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिः तेषां च पालनम्।
कर्मणां वासना वार्ता मनूनां च क्रमेण च॥
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम्।
तत्कीर्तनं हरेरेव देवानां च पृथक् पृथक्॥
3. श्रीमद् भागवत 12/7/9—सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥

सकता है।

	श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध	श्रीमद्भागवत द्वादश स्कन्ध	ब्रह्मवैवर्त पुराण
1	सर्ग	सर्ग	सृष्टि
2	विसर्ग	विसर्ग	विसृष्टि
3	स्थान	वृत्ति	स्थिति
4	पोषण	रक्षा	पालन
5	ऊति	हेतु	कर्मवासना
6	मन्वन्तर	अन्तर	मनुओं का क्रमिक वर्णन
7	ईशानुकथा	वंश-वंशानुचरित	देवों का पृथक् पृथक् वर्णन
8	निरोध	संस्था (विभिन्न प्रलय)	प्रलय वर्णन
9	मुक्ति	संस्था (आत्यन्तिक प्रलय)	मोक्ष
10	आश्रय	अपाश्रय	श्री हरि गुणगान

इस तालिका से पुराण के दस लक्षण तथा उनके अर्थ भी स्पष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण का कथन अधिक सरल है। किन्तु वस्तुतः परिशीलन करने पर पूर्व कथित पाँच लक्षणों में ही ये दसों लक्षण अन्तर्भूत हो जाते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि अधिकांश पुराणों ने पंच लक्षणों का ही कथन किया, दस का नहीं।

पुराणों का कलेवर जितना विस्तारमय है, उस दृष्टि से पुराणों में इस पंचलक्षण के अतिरिक्त भी पर्याप्त लौकिक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। स्तुति, उपवास, प्रार्थना, तीर्थ, व्रत, शरीर विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, व्याकरण, विविध दर्शन आदि नानाविध विषय पुराणों में विवेचित हुए हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने 'पुराणों के प्रतिपाद्य' विषय के रूप में अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है।[1] 'पुराणों में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों का वर्णन है—(1) किसी देव या देवी की उपासना। उसी को सबसे बड़ी शक्ति मानना तथा अन्य देवों से बड़ा बताना। (2) ब्रह्मा, विष्णु या महेश में से किसी एक को इष्टदेव मानना। (3) सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वर्णन करना। (4) देवों, ऋषियों और महर्षियों की वंशावली तथा उनका जीवनवृत्त देना। (5) प्रत्येक मनु का नाम, समय तथा उस समय की प्रमुखं घटनाओं का वर्णन। (6) नन्द, मौर्य, शुंग, आन्ध्र और गुप्त आदि

---

1. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास—पृष्ठ 95

सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन। (7) तीर्थों, भौगोलिक स्थानों एवं तीर्थयात्राओं आदि का वर्णन। (8) व्रत, जप, उपवास, प्रार्थना, उपासना एवं विविध इष्टियों का अनुष्ठान सहित वर्णन। (9) अवतारवाद, मूर्तिपूजा एवं देवी देवताओं में अतिशय श्रद्धा की स्थापना। (10) सगुणोपासना एवं भक्तिमार्ग की प्रमुखता का वर्णन। (11) दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आचारशास्त्रीय महत्त्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण। (12) व्याकरण, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, शरीरविज्ञान, आयुर्वेद आदि शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषयों से सम्बद्ध तथ्यों का संकलन।'

पुराणों की संख्या—समय के सुदीर्घ प्रवाह में बढ़ते बढ़ते वर्तमान युग में पुराणों की संख्या सौ से भी अधिक है किन्तु लोकपरम्परा में मूलतया पुराणों की संख्या अठारह मानी गई है। यह संख्या अठारह ही क्यों है—इस विषय पर अनेक प्रकार के ऊहापोह किए गए हैं। स्वयं पुराणकारों एवं उनके व्याख्याकारों ने अठारह के प्रति इस आग्रह के मूल में अनेक प्रकार के रहस्यों का उद्‌घाटन किया है।

1 वेदशास्त्रों में जगत् के मूल तत्त्व परमात्मा के अठारह रूपों का निरूपण किया गया है। भगवद्गीता में अव्यय, अक्षर एवं क्षर-इन तीन पुरुषों का कथन है और इन तीनों पुरुषों में प्रत्येक की पाँच पाँच कलाएँ मानी गई हैं। इन तीनों पुरुषों का मूलभूत तत्त्व परात्पर है जिसके माया एवं ब्रह्म ये दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं अठारह मूलभूत तत्त्वों का वर्णन पुराणों में किया गया। अतः उनकी संख्या भी अठारह है।

2 पुराणों की सृष्टि विद्या के अनुसार सृष्टि में अठारह तत्त्व उत्पन्न होते हैं—महत् तत्त्व अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, मन और पंच महाभूत। इन्ही अठारह तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन होने के कारण पुराण भी अठारह हैं।

3 पुराणों ने यज्ञविद्या का प्रतिपादन वेदोक्त मार्ग से ही किया। उपनिषदों में यज्ञ को अष्टादशकर्म के रूप में नामांकित किया गया है (मुण्डकोपनिषद्)। अतः अष्टादशकर्म स्वरूपात्मक यज्ञ का प्रतिपादन करने के कारण पुराणों की संख्या भी अठारह हुई। आदि।

पुराणों की संख्या अठारह होने में कुछ भी कारण खोजा जाए, प्रसिद्ध पुराण भी अठारह हैं और उपपुराणों की संख्या भी अठारह है। एक परम्परा प्रचलित श्लोक में अठारह पुराणों के नाम के प्रथम अक्षरों को लेकर उनकी गणना कर दी गई है।[1] पद्मपुराण ने ब्रह्म को पुराण रूप बतलाते हुए कहा है कि ब्रह्म अनेक रूपों में अवतरित होता है और उसका एक रूप पुराण भी है। इसी स्थल

---

1. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
   अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते॥

पर इस पुराण में ब्रह्म शरीर के विभिन्न अवयवों के रूप में अठारह पुराणों का भी कथन किया गया है ।[1] ये इस प्रकार हैं—1 ब्रह्म पुराण,2 पद्म पुराण,3 विष्णु पुराण,4 शिव पुराण अथवा वायु पुराण, 5 भागवत पुराण,6 नारदीय पुराण,7 मार्कण्डेय पुराण,8 अग्नि पुराण,9 भविष्य पुराण,10 ब्रह्मवैवर्त पुराण, 11 लिंग पुराण, 12 वराह पुराण, 13 स्कन्द पुराण, 14 वामन पुराण, 15 कूर्म पुराण, 16 मत्स्य पुराण, 17 गरुड़ पुराण तथा 18 ब्रह्माण्ड पुराण । विभिन्न अनेक पुराणों में इनका यही क्रम प्राप्त होने से इस अध्याय में भी इसी क्रम से संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है ।

1. ब्रह्म पुराण—प्राचीन माने जाने वाले सभी पुराणों में इसका उल्लेख होने के कारण यह प्राचीनतम पुराण प्रतीत होता है । इसके नामकरण के दो कारण हैं । प्रथमतः यह ब्रह्मा द्वारा कथित है और द्वितीयतः इसमें भगवान श्रीकृष्ण का ब्रह्म के रूप में निरूपण किया गया है । इसी को आदि पुराण भी कहा जाता है क्योंकि पुराणों के गणना क्रम में प्रायः यह सर्वप्रथम ही पठित है ।[2]

सम्पूर्ण ब्रह्मपुराण में 246 अध्याय हैं और लगभग चौदह हजार श्लोक हैं । इसमें सूर्य को विश्व के उद्‌भव का मूल कहा गया है । प्रत्येक मास में आदित्य मण्डल की क्या विभिन्न संज्ञाएँ है तथा विभिन्न ऋतुओं में सूर्य का तेज किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होता है—आदि विषय इस पुराण में सविस्तार वर्णित हैं । विष्णु के विभिन्न अवतारों,विशेषतया विस्तृत रूप में राम एवं कृष्ण की कथा ब्रह्मपुराण में कहीं गई हैं । इन वैष्णव भक्ति परक अनेक आख्यानों के साथ इसमें उत्कल (उड़ीसा) के विभिन्न पवित्र तीर्थ क्षेत्रों का वर्णन है । इसमें सूर्य और शिव में अभेद स्थापित किया गया है । इनका एक पूरक परिशिष्ट सौर पुराण कहलाता है ।

2. पद्म पुराण—इस पुराण का यह नाम पड़ने का यह कारण है कि इसमें उस समय का वृत्तान्त वर्णित है जिस समय यह ज़गत् स्वर्णमय पद्म के रूप में परिणत था । इस में पाँच खण्ड

---

1. पद्मपुराण-स्वर्गखण्ड 62/2–7–एकं पुराणं रूपं वै तत्र पाद्मं परं महत् ।
ब्राह्मं मूर्धा हरेरेव हृदयं **पद्मसंज्ञितम्** ॥
वैष्णवं दक्षिणो बाहुः **शैवं** वामो महेशितुः ।
उरू **भागवतं** प्रोक्तं नाभिः **स्यान्नारदीयकम्** ॥
मार्कण्डेयं च दक्षाङ्घ्रिर्वामो **ह्याग्नेयमुच्यते** ।
भविष्यं दक्षिणो जानुर्विष्णोरेव महात्मनः ॥
ब्रह्मावैवर्तसंज्ञ तु वामजानुरुदाहृतः ।
लैङ्गं तु गुल्फकं दक्षं **वाराहं** वामगुल्फकम् ॥
स्कान्दं पुराणं लोमानि त्वगस्य **वामनं** स्मृतम् ।
कौर्मं पृष्ठं समाख्यातं **मात्स्यं** मेदः प्रकीर्त्यते ॥
मज्जा **तु गारुडं** प्रोक्तं **ब्रह्माण्डमस्थि** गीयते ।
एवमेवाभवद्विष्णुः **पुराणावयवो हरिः** ॥
2. विष्णुपुराण 3/6/20 – आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते ।

हैं—सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल तथा उत्तर खण्ड। इन पाँच खण्डों में 641 अध्याय हैं तथा श्लोक संख्या लगभग पचपन हजार है।[1] मुख्यतया वैष्णव पुराण होते हुए भी यह पद्म पुराण ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इस त्रिदेव के एकत्व की भावना का प्रतिपादन करता है। इसमें अनेक आख्यान है जिनमें 'राम' तथा 'शकुन्तला' की कथाएँ भी हैं। ये कथाएँ रामायण की रामकथा तथा महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से साम्य न रखकर कालिदास रचित 'रघुवंश' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' से अधिक साम्य रखती हैं। अतः विद्वज्जन पुराण के इन अंशों को कालिदास से परवर्ती मानते हैं।

3 विष्णु पुराण—प्राचीनता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से इस पुराण का स्थान प्रमुख है। इस पुराण में विष्णु के विभिन्न अवतारों के माध्यम से विष्णु उपासना वर्णित है, अतः इसका नाम अन्वर्थ है। उपलब्ध विष्णु पुराण छह अंशों (खण्डों) में विभक्त है तथा छहों अंशों में कुल 126 अध्याय हैं। अन्य पुराणों में इसकी श्लोक संख्या तेईस हजार कही गई है,[2] किन्तु इसमें लगभग 6 हजार श्लोंक ही प्राप्त हैं। कतिपय विद्वान् विष्णुधर्मोत्तर नामक उपपुराण को इसी का उत्तरार्ध मान कर अन्य पुराणों में उल्लिखित इसकी श्लोक संख्या पूरी करते हैं।

अठारह पुराणों के मध्य इस पुराण का महत्त्व सर्वातिशायी है। यह पुराण वैष्णव भक्ति, उपासना तथा वैष्णव दर्शन का विलक्षण एवं मूलाधार ग्रन्थ है। विष्णु पुराण ही रामानुज सम्प्रदाय और माध्व सम्प्रदाय का प्रधान अवलम्बन रहा है। यही एकमात्र पुराण है जिसमें पुराणों के पंचलक्षणों का पूर्ण परिपाक हुआ है। मौर्यवंशीय राजाओं की प्रामाणिक वंशावली इसी पुराण में प्राप्त होती है। इस पुराण का ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा दार्शनिक महत्त्व बहुत माना जाता है। रत्नगर्भ, श्रीधर, विष्णुचित्त आदि आचार्यों की महत्त्वपूर्ण प्राचीन टीकाएँ इस पुराण पर उपलब्ध होती है।

4 शिव पुराण—इसे वायु पुराण भी कहा जाता है। उपलब्ध वायु पुराण में चार पाद—प्रक्रिया, अनुषंग, उपोद्घात एवं उपसंहार हैं। ये चार पाद 112 अध्ययों में विभक्त हैं जिनमें लगभग बारह हजार श्लोक हैं। शिवभक्ति एवं शिव की महत्ता का निदर्शन ही इस पुराण का प्रतिपाद्य विषय रहा है। इसमें शिव सम्बन्धी कट्टरता अथवा पूर्वाग्रह की भावना नहीं है। इसी कारण इस पुराण में अन्य देवताओं के प्रति भी श्रद्धा दृष्टिगोचर होती है। विष्णु के महत्त्व एवं भक्ति का कथन भी इसमें प्राप्त होता है। इसके तीन अध्यायों में सम्पूर्ण संगीतशास्त्र का अत्यन्त सूक्ष्म विवरण है। इस पुराण के नीति श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। गुप्त साम्राज्य का वर्णन होने के कारण इस पुराण का भी ऐतिहासिक महत्त्व है।

5 भागवत पुराण—समस्त भारतवर्ष में सर्वाधिक लोकप्रिय यह पुराण श्रीमद्भागवत नाम

---

1. मत्स्य पुराण 53/14 —तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः।
   पाद्मं तत् पंचपंचाशत्सहस्राणीह कथ्यते॥
2. नारद पुराण 4/1-2
   मत्स्य पुराण 53/16-17

से प्रसिद्ध है। नाम से पूर्व जुड़े हुए 'श्रीमत्' शब्द से ही इस पुराण के शोभासम्पन्न स्वरूप का भी बोध होता है और इस पुराण के प्रति जनमानस की श्रद्धा एवं आदर का भी। इसमें द्वादश स्कन्ध हैं तथा लगभग बारह हजार श्लोक पाए जाते हैं जिनमें विष्णु के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि तथा बुद्ध भी विष्णु के अवतार कहे गए हैं।

यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य का अद्‌भुत अमूल्य रत्न है। वैष्णव धर्म में यह परम पूज्य धर्मग्रन्थ के रूप में मान्य है। वैष्णव दर्शन विशेषतः वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का यह आधारभूत ग्रन्थ है। भक्ति सम्प्रदाय में यही 'पुष्टि मार्ग' से विख्यात है और पुष्टिमार्गीय इस भागवत पुराण को वेद मानते हैं। सभी पुराणों के मध्य इसी पुराण ने विशेष रूप में भक्ति का प्रतिपादन करके उसे मुक्ति का प्रधान साधन माना। इस पुराण का दशम स्कन्ध मध्यमणि सदृश है जिसमें आनन्दकन्द कृष्ण की लीलाएँ प्रत्येक श्रोता को रस मग्न कर देती हैं। इसी दशम स्कन्ध के पाँच अध्याय—रासपंचाध्यायी—नाम से विख्यात हैं। इस पुराण की शैली अत्यन्त प्रौढ़ किन्तु भावाभिव्यंजक, दार्शनिक किन्तु सरल एवं परिष्कृत है।

समस्त पुराणों के मध्य श्रीमद्‌भागवत पुराण का एक परम निजी महत्त्व यह है कि यह पुराण परवर्ती भारतीय साहित्य के लिए उपजीव्य ग्रन्थ बना। डॉ.सूर्यकान्त के शब्दों में "रसो वै सः' के प्रत्यक्ष निदर्शनभूत रसिक शिरोमणि श्याम सुन्दर की ललित लीला तथा लावण्यमय विग्रह की भव्य झाँकी प्रस्तुत करने वालां वह भागवत पुराण भारतीय साहित्य के गीतिकाव्यों तथा प्रगीत मुक्तकों का अक्षय स्रोत है जिसकी माधुर्य भावना को ग्रहण कर कृष्णभक्त कवियों ने अपने काव्यों में लालित्य, सरसता तथा हृदयानुरंजकता का पुट देकर उन्हें शोभन तथा हृदयावर्जक बनाया।"[1]

नारद पुराण—इसी को नारदीय पुराण भी कहा जाता है। सनत्कुमारों के द्वारा नारद के प्रति इस ज्ञान का कथन किए जाने के कारण इस पुराण का यह नाम है। यह पुराण पूर्व तथा उत्तर दो भागों में विभक्त है। पूर्व भाग में चार पाद हैं जिनमें कुल 125 अध्याय हैं। उत्तर भाग पंचम पाद भी कहलाता है तथा उसमें 82 अध्याय हैं। उपलब्ध नारद पुराण में श्लोक संख्या लगभग अठारह हजार है।

इस पुराण में विष्णु भक्ति की प्रधानता होते हुए भी सभी देवोंको समान महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथा सम्प्रदाय से दूर रहने का का मंगलमय उपदेश दिया है। पुराणों के पंचलक्षण इस पर पूर्णतया घटित नहीं होते क्योंकि इसमें सृष्टि तत्त्व को अत्यधिक कम ग्रहण किया गया है। विभिन्न व्रतों, तीर्थ स्थानों, श्राद्धादि कर्मों, वर्णाश्रम धर्म, दानमाहात्म्य तथा भक्ति की सर्वश्रेष्ठता का इस पुराण में विविध कथन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस पुराण का बहुत महत्त्व है क्योंकि इसके अठारह अध्यायों—92 से 109 तक—में अन्य पुराणों के विभिन्न विषयों की विस्तृत अनुक्रमणी तथा प्रत्येक पुराण की श्लोक संख्या भी दी गई है।

---

1. उपध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 22-23 पर उद्धृत

7 मार्कण्डेय पुराण—मार्कण्डेय मुनि के महत्त्वपूर्ण आख्यान के कारण ही सम्भवतः इस पुराण का यह नाम हुआ है। इसमें अग्नि, इन्द्र, सूर्य तथा ब्रह्मा देवों को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसी पुराण में द्रौपदी के पाँच पतियों के वास्तविक गूढ़ रहस्य का वर्णन है। एक ही इन्द्र पाँच अंशों में प्रकाशित होकर पंच पाण्डवों के रूप में आए थे—अतः द्रौपदी के पाँच पति वस्तुतः एक ही थे—ऐसा वर्णन मिलता है। इस पुराण में 137 अध्याय हैं तथा कुल नौ हजार श्लोक हैं।

चण्डी देवी– देवी माहात्म्य—के विशेष कथन के कारण यह पुराण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में नवरात्रि के अवसर पर जिस दुर्गा सप्तशती का पाठ भक्तिपूर्वक किया जाता है, वह मार्कण्डेय पुराण के 81 वें अध्याय से 93 वें अध्याय तक प्राप्त होता है। दुर्गासप्तशती में तीन चरित हैं—प्रथम चरित में मधुकैटभ वध, मध्यमचरित में महिषासुरमर्दन एवं उत्तरचरित में शुम्भनिशुम्भ एवं उनके सेनापतियों—चण्ड, मुण्ड एवं रक्तबीज का वध वर्णित हुआ है। इस पुराण ने दुर्गा को विश्व की मूल चितिशक्ति माना है।

8 अग्नि पुराण—स्वयं अग्नि ने यह पुराण वसिष्ठ को सुनाया था, इसी कारण इस पुराण का यह नाम पड़ा है। इसमें 383 अध्याय हैं। नारद पुराण में [1] इसकी श्लोक संख्या पन्द्रह हजार तथा मत्स्य पुराण में [2] सोलह हजार कही गई है। किन्तु उपलब्ध अग्नि पुराण में बारह हजार श्लोक ही पाए जाते हैं।

विषयों के वैविध्य तथा उपयोगिता की दृष्टि से अग्नि पुराण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का यह अद्भुत विश्वकोष है। स्वयं इसी पुराण में यह कथन प्राप्त होता है कि 'इस अग्नि पुराण में सारी विद्याएँ वर्णित हैं।'[3] वस्तुतः ही सभी विद्याओं का संकलन इस पुराण में कर दिया गया है। परा अपरा विद्याएँ, विभिन्न अवतार कथाएँ, सृष्टि वर्णन, तीर्थ माहात्म्य, रामायण के सातों काण्डों की संक्षिप्त कथा, महाभारत कथा का संक्षेप आदि तो वर्णित है ही, साथ ही काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतशास्त्र, वास्तु विद्या, शिल्पशास्त्र, इतिहास आदि विविध विषयों का इसमें समावेश है। विषयों की ऐसी विविधता अन्य किसी पुराण में प्राप्त नहीं होती।

9 भविष्य पुराण—भारत के इतिहास क्रम का भविष्यत् रूप में कथन करने के कारण इस पुराण का यह नाम है। इसमें चार पर्व तथा कुल 585 अध्याय हैं। पर्व पुनः अवान्तर खण्डों में भी विभक्त हैं। इसमें लगभग चौदह हजार श्लोक हैं।

अनेक दृष्टियों से इस पुराण का विविध महत्त्व है। इसमें वर्णित व्रतों तथा दानादि के विवरण को आधार बना कर ही परवर्ती कर्मकाण्डीय निबन्ध साहित्य प्रवर्तित हुआ। इसके अतिरिक्त

---

1. नारद पुराण 1/4/25/1–2
2. मत्स्य पुराण 53/28-29
3. अग्नि पुराण 383/51 – आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः।

संस्कृत के कथासाहित्य की वेतालपंचविंशति कथाएँ इस पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के द्वितीय खण्डके तेईस अध्यायों में प्राप्त होती हैं। इस पुराण में समय समय पर निरन्तर नवीन वर्णन जुड़ते रहे हैं। अतः इस पुराण में सर्वाधिक प्रक्षिप्त अंश पाया जाता है।

10 ब्रह्मवैवर्त पुराण–इस पुराण के नामकरण का कारण इसी में वर्णित है कि 'इस पुराण में श्रीकृष्ण ने अपने सम्पूर्ण ब्रह्म स्वरूप को विवृत (प्रगट) कर दिया है।'[1] यह वैष्णव पुराण है तथा इसमें ब्रह्म, प्रकृति, गणपति या गणेश एवं कृष्णजन्म—ये चार खण्ड हैं। अन्तिम खण्ड के पुनः पूर्व एवं उत्तर दो भाग हैं। सम्पूर्ण पुराण में 266 अध्याय तथा लगभग अठारह हजार श्लोक हैं।

इस पुराण के प्रमुख प्रतिपाद्य देव विष्णुस्वरूप श्रीकृष्ण एवं उनकी शक्ति रूपिणी राधा हैं। परब्रह्म परमात्मा नाम से श्रीकृष्ण ही इसमें प्रतिपादित हैं 'वन्दे कृष्णं गुणातीतं परं ब्रह्माच्युतं यतः' (ब्रह्मखण्ड 1/4)। ब्रह्म खण्ड में सृष्टि वर्णन है तथा श्रीकृष्ण से ही विष्णु, शिव, गणेश आदि सभी देवों की उत्पत्ति कही गई है। प्रकृति खण्ड में राधा चरित्र वर्णित है। यह राधा ही दुर्गा, महालक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री, काली आदि सभी देवियों की मूल प्रकृति स्वरूप हैं। गणपति खण्ड में गणेश सम्बन्धी आख्यान हैं और गणेश को भी श्रीकृष्ण के अवतार रूप में उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण जन्मखण्ड में कृष्ण के अलौकिक जन्म, विभिन्न लीलाओं, रास, युद्ध तथा विजय आदि का वर्णन है। इस पुराण की भूयसी विशिष्टता यही है कि इसने राधातत्व की दृढ़ स्थापना कर दी तथा समस्त 'स्त्रीतत्त्व' को श्रीराधा के ही भेदभेदांश अथवा प्रभेदांश के रूप में प्रतिष्ठित किया।

11 लिङ्ग पुराण–इस पुराण में परमात्मा शिव को लिंगी-निर्गुण, निराकार, अलिंग कहा गया है, जो समस्त अव्यक्त प्रकृति का मूल है।[2] इसीलिए इसे लिंग पुराण कहा जाता है। मत्स्यपुराण के अनुसार भगवान् शिव ने अग्निलिंग के मध्य में स्थित होकर तथा कल्पान्तर में अग्नि को सम्बोधित करके धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों की प्राप्ति के लिए जिस पुराण में धर्म का कथन किया, उसे ब्रह्मा ने लिंग या लैंग पुराण नाम दिया।[3] यह दो भागों में विभक्त है। पूर्व भाग में एक सौ आठ अध्याय तथा उत्तर भाग में पचपन अध्याय हैं, तथा कुल ग्यारह सहस्र श्लोक हैं।

यह शैव पुराण है तथा शैवदर्शन एवं शैव धर्म का प्रमुख प्रतिपादन करता है। शिव के उस लिंग स्वरूप में भी देवता समाहित हैं। पाणिनीय धातुपाठ (1/152; 10/204) में लिंग् धातु गत्यर्थक एवं चित्रीकरणार्थक है। अतः 'जो इस चित्रविचित्र ब्रह्माण्ड का निर्माण करके स्वयं उसे

---

1. ब्रह्मवैवर्तपुराण—ब्रह्मखण्ड 1/58-59 – विवृतं ब्रह्मकात्स्र्न्यं च कृष्णेन यत्र शौनक।
   ब्रह्मवैवर्तकं तेन प्रवदन्ति पुराविदः॥
2. लिङ्ग पुराण 1/3/1 – अलिंगो लिंगमूलं तु अव्यक्तं लिंगमुच्यते।
   अलिंग शिव इत्युक्तो लिंग शैवमिति स्मृतम्॥
3. मत्स्य पुराण–अध्याय 53–यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः।
   धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च॥
   कल्पान्तं लिङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम्।

चैतन्य एवं गतिशील करता हुआ सर्वत्र व्याप्त एवं अनुस्यूत है, वह परब्रह्म स्वरूप परमात्मा ही शुद्ध रूप से लिंग पद के द्वारा वाच्य होता है।' इस पुराण ने शैवधर्म में लिंगपूजा के महत्त्व को सुप्रतिष्ठित कर दिया। इसके उत्तर भाग में शैवतन्त्रों के अनुसार ही पशु, पाश तथा पशुपति का वर्णन है।

12. वराह पुराण—विष्णु ने वराह अवतार धारण करके पृथिवी का उद्धार किया। पृथिवी ने स्तुति पूर्वक वराह से जो प्रश्न किए, उन्हीं का उत्तर रूप यह पुराण है और वराह द्वारा कथित होने से ही इसका यह नामकरण हुआ। नारद पुराण (1/103) तथा भागवत पुराण (12/13/7) के अनुसार इस पुराण के दो-पूर्व तथा उत्तर भाग हैं तथा 24 हजार श्लोक हैं। किन्तु उपलब्ध वराह पुराण में 217 अध्याय एवं लगभग दस हजार श्लोक हैं।

यह श्लोक वैष्णव पुराण है। किन्तु विष्णु की उपासना के साथ ब्रह्मा, रुद्र, गणेश, कार्तिकेय सूर्य आदि विविध देवों की पूजा भी इसमें प्राप्त होती है। विभिन्न तिथियों का महत्त्व, उन तिथियों के देव तथा तत्सम्बद्ध उपासना इसमें विशेषतया वर्णित है। इस पुराण का भौगोलिक वर्णन अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं प्रामाणिक है। सम्पूर्ण मथुरा मण्डल के विविध तीर्थस्थलों के विस्तृत वर्णन (152 से 188 अध्याय) की दृष्टि से यह पुराण विशेषतया महत्त्वपूर्ण है। इसमें रामानुजीय श्री वैष्णव मत का विशद विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

13 स्कन्द पुराण—यह सर्वाधिक महाकाय पुराण है। इसमें स्कन्द के द्वारा शैव तत्त्व का प्रतिपादन कराया गया है। स्कन्द (कार्तिकेय) के द्वारा कथित होने के कारण इसका यह नामकरण हुआ है। स्कन्द पुराण खण्डात्मक एवं संहितात्मक-ऐसे दो स्वरूपों में उपलब्ध होता है और दोनों में ही लगभग 81-81 हजार श्लोक हैं। संहितात्मक स्कन्द पुराण में सनत्कुमार, शंकर, ब्रह्म, सौर, वैष्णव तथा सूत-ये छह संहिताएँ हैं तथा खण्डात्मक स्कन्द पुराण में माहेश्वर, वैष्णव, ब्राह्म, काशी, अवन्ती (ताप्ती और रेवा खण्ड), नागर तथा प्रभास—ये सात खण्ड हैं।

अनेक दृष्टियों से इस पुराण को बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी पुराण में शैव 'ब्रह्मगीता' तथा वेदान्ती 'सूतगीता' है। सम्पूर्ण भारत में जिस 'श्री सत्यनारायण व्रत कथा' का विशेष प्रचार है, वह इसी के उपखण्ड-रेवा खण्ड-में प्राप्त होती है। भारत भर के सभी मुख्य तीर्थस्थलों तथा पवित्र नदियों का वर्णन प्राप्त होने से इस पुराण का भौगोलिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। काशी खण्ड में विशेषतया वाराणसी एवं उसके समीपवर्ती मन्दिरों का विस्तृत वर्णन है। प्रसिद्ध 'गंगासहस्रनाम' भी इसी काशीखण्ड में हैं। इसके अतिरिक्त शिवभक्ति, योग, वर्णाश्रम धर्म, शैव आख्यान, सूर्यदेव वर्णन, विष्णु का रामावतार, विभिन्न तिथियों तथा उनके माहात्म्य आदि का विशद वर्णन किया गया है।

14 वामन पुराण—विष्णु के वामन अवतार के आधार पर इस पुराण का यह नामकरण हुआ है। इसमें मुख्यतया त्रिविक्रम (विष्णु) का माहात्म्य वर्णित है। यह पूर्व तथा उत्तर दो भागों में विभक्त है तथा इसमें 10000 श्लोक हैं। उत्तर भाग में माहेश्वरी, भागवती, सौरी तथा गणेश्वरी—ये चार संहिताएँ कही गई है किन्तु यह सम्पूर्ण उत्तर भाग अप्राप्त है। अभी तक इसका पूर्व भाग ही उपलब्ध है, जिसमें 97 अध्याय तथा लगभग छह हजार श्लोक हैं। बीच-बीच में गद्यात्मक अंश

भी प्राप्त होते हैं ।

मूलतः वैष्णव पुराण होते हुए भी वामन पुराण में शैव धर्म का विशद चित्रण प्राप्त होता है । दक्षयज्ञ विध्वंस,शिवचरित्र,गौरी आख्यान,स्कन्द वर्णन,लिंगपूजा आदि के द्वारा शिव का भी विस्तृत स्वरूप इस पुराण में दिया गया है जिससे यह सभी देवों में ऐक्य भाव की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करता है ।

15 कूर्म पुराण—समुद्र मन्थन के समय कूर्मावतारधारी विष्णु ने इन्द्रादि देवों तथा नारदादि ऋषियों को इस पुराण का उपदेश दिया, यही इसके नामकरण का कारण है । मूलतः इसमें ब्राह्मी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी—ये चार संहिताएँ थी ।[1] किन्तु अभी तक केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध हो सकी है । यह संहिता पूर्व भाग (53 अध्याय) तथा उपरि भाग (46 अध्याय) में विभक्त है तथा श्लोक संख्या लगभग छह हजार है ।[2]

ब्राह्मी संहिता का प्रारम्भ पुराण लक्षण, अठारह पुराण तथा अठारह उपपुराणों के नामों के परिगणन से होता है । वर्णाश्रम धर्म, तीर्थ, सप्तद्वीप वर्णन, आकाशीय पिण्डों की स्थिति, विभिन्न मन्वन्तर, प्रलय आदि का विस्तृत वर्णन तो इस पुराण में है ही; किन्तु परब्रह्म रूप में शिवतत्त्व का इसमें विशेष विवेचन किया गया है । कूर्मरूप विष्णु ने शिव को ही परम तत्त्व तथा मुख्य देव कहा है । इस पुराण में वैष्णव-शैव तथा शाक्त मतों का अद्‌भुत समन्वय किया गया है तथा विष्णु एवं शिव का परमैक्य विवेचित है । 'ईश्वरगीता' तथा 'व्यासगीता' इसी पुराण में है । 'व्यास गीता' के एकादश अध्याय में पाशुपत योग का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है ।

16 मत्स्य पुराण—मत्स्यावतार रूप में विष्णु ने मनु तथा सप्तर्षियों को इस पुराण का उपदेश दिया था, अतः यह मत्स्य पुराण नाम से विख्यात हुआ । इसके 291 अध्यायों में चौदह हजार श्लोक हैं । इसमें वैष्णव एवं शैव दोनों ही प्रकार की कथाएँ प्रस्तुत हुई हैं, किसी एक धर्म या देव के प्रति विशेष आग्रह नहीं है ।

प्राचीनता एवं मौलिकता की दृष्टि से इस पुराण का बहुत महत्त्व है । अनेक दुर्लभ विषयों का इसमें संकलन हुआ है । स्थापत्य, वास्तु एवं मूर्ति इन तीन कलाओं से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री इसमें उपलब्ध है । विभिन्न ज्योतिषविषयों का इसमें विस्तृत विवेचन है । परवर्ती धर्मनिबन्ध ग्रन्थों ने मत्स्य पुराण के दान एवं व्रत प्रकरणों को यथावत् ग्रहण कर लिया है । इसके नीति एवं सदाचार श्लोक अनेक संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं । आन्ध्र राजाओं की प्रामाणिक वंशावली प्राप्त होने

---

1. कूर्मपुराण –1/1/22 – ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः ।
   चतस्रः संहिताः पुण्याः धर्मकामार्थमोक्षदाः ॥
2. कूर्म पुराण 1/1/23–इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैश्च सम्भवा ।
   भवन्ति षट्सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया ।

मत्स्य पुराण (53/47) के अनुसार मूल कूर्मपुराण की श्लोकसंख्या अठारह हजार थी । अतः अपलब्ध ब्राह्मीसंहिता मूल कूर्मपुराण का तृतीयांश मात्र है ।

से मत्स्य पुराण का ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत माना जाता है।

17 गरुड़ पुराण—यह भी वैष्णव पुराण है। इसके पूर्व तथा उत्तर दो खण्ड हैं। विभिन्न पुराणों में इसकी श्लोक संख्या उन्नीस हजार कही गई है किन्तु उपलब्ध गरुड़ पुराण में केवल सात हजार श्लोक ही प्राप्त होते हैं। इसमें विष्णु के द्वारा गरुड़ को सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान दिया जाने के कारण इसका यह नामकरण हुआ।

इसमें पुराणविषयक सभी तत्त्वों का समावेश है और शक्तिपूजा के अतिरिक्त विष्णु, दुर्गा, शिव, सूर्य, गणेश-इस पंचदेवोपासना की विधि वर्णित है। अग्नि पुराण की भाँति इसमें भी विष्णुभक्ति, व्रत, प्रायश्चित, ज्योतिष, व्याकरण छन्दशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, नीति आदि विविध विषयों का वर्णन है। विभिन्न प्रकार के रोग, रोगों की चिकित्सा, जड़ी बूटी तथा अन्य विविध ओषधियों का प्रयोग आदि आयुर्वेद के विभिन्न विषयों का गरुड़ पुराण में पर्याप्त विस्तार है। इस पुराण के उत्तर खण्ड को प्रेतकल्प कहा जाता है जिसमें मृत्यु, आत्मा तथा पुनर्जन्म जैसे सूक्ष्म विषयों के अतिरिक्त कृत्याकृत्य विचार, यमलोक मार्ग, धर्मराज वैभव, विविध कर्मों के विपाक का निरूपण, प्रेतयोनियाँ, प्रेतत्व से मुक्ति के उपाय आदि विषयों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। वर्तमान काल में सनातन धर्मी हिन्दू की मृत्यु के पश्चात् इसी गरुण पुराणके उत्तर खण्ड के कतिपय अध्यायों का पाठ कराया जाता है।

18 ब्रह्माण्ड पुराण—ब्रह्माण्ड का विशद भौगोलिक वर्णन होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड पुराण कहा जाता है—'ब्रह्माण्डचरितोक्तत्वाद् ब्रह्माण्डं परिकीर्तितम्।' यह तीन भागों में विभक्त है। पूर्वभाग में प्रक्रिया तथा अनुषंग नामक दो पाद हैं। मध्यम भाग उपोद्घात पाद एवं उत्तर भाग उपसंहार पाद है। सम्पूर्ण पुराण में 156 अध्याय तथा लगभग बारह हजार श्लोक हैं।

यह पुराण स्तोत्रों, उपाख्यानों एवं माहात्म्यों का एक विशाल संग्रह है। प्रसिद्ध 'अध्यात्म रामायण' इसी पुराण का एक अंश हे जिसमें शिव एवं पार्वती के वार्तालाप में रामभक्ति और अद्वैतभावना को ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय कहा गया है। इस पुराण के उत्तर भाग में भगवती त्रिपुरसुन्दरी का आख्यान है जो 'ललितोपाख्यान' नाम से प्रसिद्ध है। वायुपुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण में परस्पर अद्‌भुत साम्य दिखाई देता है।

ये अठारह पुराण ही भारत में सर्वत्र मान्य हैं। अत्यन्त प्राचीन परम्परा से ही इन अठारह पुराणों को सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक रूप में त्रेधा विभक्त किया गया है। किन्तु इस विभाजन में किसी भी पुराण के प्रति उत्तमता अथवा अधमता का भाव सन्निहित नहीं है। यह समस्त सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। परब्रह्म इन्हीं तीन गुणों के आधार से अभिव्यक्त होता है। पालन एवं पोषणकर्त्री सत्त्वबहुल वृत्ति विष्णु स्वरूप में, उत्पत्तिकर्त्री विक्षोभात्मिका राजस् शक्ति ब्रह्मास्वरूप में एवं संहार तथा लय कर्त्री तामसिक शक्ति शिव रूप में अभिव्यक्त होती है। किन्तु वस्तुतः तीनों गुण एकत्र रूप में परब्रह्म के ही द्योतक हैं। इसी प्रकार सारे अठारह पुराण उस परमशक्ति का ही वर्णन एवं प्रतिपादन करते हैं किन्तु उपास्यदेव की विशिष्ट शक्ति अथवा गुण के आधार पर वे सात्त्विक आदि कहे जाते हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म तथा वराह सात्त्विक पुराण हैं; ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त,

मार्कण्डेय, भविष्य, वामन तथा ब्रह्मपुराण राजसिक पुराण हैं तथा मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव (वायु), स्कन्द तथा अग्निपुराण तामसिक पुराण कहे गए हैं।

इन अष्टादश पुराणों के अतिरिक्त कुछ उपपुराण भी उपलब्ध होते हैं। गरुड़ पुराण अठारह में उपपुराणों की गणना की गई है, अन्यथा इनकी संख्या 30 तक पहुँच जाती है। अठारह उपपुराणों के नाम इस प्रकार हैं—

(1) सनत्कुमार, (2) नारसिंह, (3) स्कान्द, (4) शिव धर्म (5) आश्चर्य, (6) नारदीय, (7) कापिल, (8) वामन, (9) औशनस, (10) ब्राह्माण्ड, (11) वारुण, (12) कालिका, (13) माहेश्वर, (14) साम्ब, (15) सौर, (16) पाराशर, (17) मारीच, (18) भास्कर।

पुराणों का महत्त्व—विभिन्न दृष्टियों से अनुशीलन करने पर पुराणों का महत्त्व अनेक प्रकार से व्यंजित होता है। वेदों और पुराणों के घनिष्ट सम्बन्ध को इस अध्याय के प्रारम्भ में ही विवेचित किया जा चुका है। संस्कार विहीन अथवा दोषयुक्त व्यक्ति वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं थे। उन्हीं को उपदेश देने के लिए वेदों की प्रभूत ज्ञानराशि पुराणों में संग्रहित की गई। इस प्रकार पुराणों ने उस अवाङ्मनोगोचर तत्त्व को सर्वसुलभ कर दिया। सनातन धर्म इन पुराणों को वेद के सदृश ही आप्त और प्रामाणिक मानता है। पुराणों में हिन्दू धर्म अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में प्रतिबिम्बित दीख पड़ता है। पुराण साहित्य सनातन हिन्दू धर्म का प्राणभूत है। वैदिक कालीन धर्म एवं संस्कृति अपने परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप में पुराण ग्रन्थों में और अधिक अलंकृत एवं सुशोभित हो उठे हैं। त्रिदेव की भिन्नता तथा ऐक्य, विष्णु, शिव, सूर्य, ब्रह्मा, स्कन्द, गणेश, आदि देवताओं की विभिन्न प्रकार की उपासना पद्धति पुराणों के अध्ययन से ही ज्ञात हो सकती है। मूर्तिपूजा, तीर्थ माहात्म्य, व्रत, उपवास तथा दोष परिहार हेतु प्रायश्चित्तादि का विधान विभिन्न पौराणिक आख्यानों के द्वारा सुन्दर रूप में किया गया है। पौराणिक युग का यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था जिसने धर्म, ज्ञान, उपासना, साधना, रीति एवं परम्परा सभी के क्षेत्रों में वेदों की अपेक्षा एक सरल और सुगम पथ का प्रवर्तन किया। इसी लिए पुराण प्रथाओं में न केवल देवी देवताओं की स्थापना करने का ही प्रयत्न मिलता है अपितु आचार-विचार, धर्म, अनुष्ठान, व्रत तथा पूजा आदि क्षेत्रों में भी नितान्त नवीन मान्यताओं ने जन्म लिया है। कोई भी हिन्दू धर्म का अध्येता पुराणों कीओर से उदासीन नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में विण्टरनित्स के विचार नितान्त स्पष्ट हैं[1] – 'इतिहासज्ञों तथा प्राचीनता के अन्वेषकों के लिए पुराण उनकी वंशावलियों के कारण राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं भले ही उनका उपयोग बड़ी सावधानी तथा विवेक के साथ किया जा सकता हो। धर्म के इतिहास की दृष्टि से तो उनका मूल्य आँका ही नहीं जा सकता और सिर्फ इस दृष्टि से भी उनका ठीक अध्ययन होना चाहिए।—ये पुराण हिन्दूधर्म के सभी अंगों के और स्तरों—पुराण कथाओं, मूर्तिपूजा, सेश्वरवाद और एकेश्वरवाद, ईश्वरभक्ति. दर्शन और पूर्वाग्रह, उत्सव और त्योहार तथा आचार का

1. विण्टरनित्स—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर—खण्ड 2 पृष्ठ 196

किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा हमें कहीं अधिक गहन ज्ञान प्रदान करते हैं।'

सृष्टि विद्या का तात्त्विक निरूपण पुराणों का लक्षणात्मक स्वरूप है। पुराणों में प्रतिपादित यह सृष्टि प्रकरण अत्यन्त गहन एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्राकृती, ब्राह्मी, मानसी तथा मैथुनी—इन चारों ही प्रकार का सृष्टि विज्ञान पुराणों में प्रतिपादित हुआ है। मैथुनी सृष्टि में उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज चारों प्रकार के प्राणियों से सृष्टि होती है। इसी के अन्तर्गत मानव पिण्ड भी है। जिसमें पूर्वजन्म के कर्मानुसार सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण की परम विषमता होती है। केवल उत्तम आचरण एवं भगवद्भक्ति से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर ब्रह्मसायुज्य पाता है। सृष्टि विद्या की दुरूहता के मध्य ही पुराणों ने अवतारवाद की स्थापना की, जो आज हिन्दू धर्म का एक प्रमुख अंग बन गया है। समस्त उपासना पद्धति का इस अवतारवाद के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। परब्रह्म सत् चित् आनन्द रूप है। उसके चित् अंश् के संयोग से स्थावर जंगम में चेतना अथवा प्राण अंश संयुक्त होता है। इस चिदंश की सोलह कलाएँ अथवा अंश है। मानव शरीर उत्तमता के आधार पर अधिक से अधिक आठ कलाअंश धारण करता है इस से अधिक नहीं। किन्तु जिन शरीरों में चित् स्वरूप की आठ से अधिक कलाएँ संयुक्त होती हैं, वे ही अवतार कहे जाते हैं। सोलहों कलाओं अथवा चिदंशों से परिपूर्ण श्रीकृष्ण इसीलिए पूर्णावतार कहलाते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रक्षक विष्णु होने के कारण प्रायः विष्णु के ही अवतारों की गणना की जाती है। भक्तों की प्रार्थना पूर्ण करने के लिए, अधर्म का उच्छेदन करने के लिए एवं सज्जनों की रक्षा करने के लिए सर्वव्यापी निराकार ईश्वर विभिन्न मानवादि शरीर धारण करता है। सभी पुराणों में भगवान् के अनेक अवतारों का वर्णन है किन्तु जिस जिस पुराण का निर्माण जिस अवतार के नाम से हुआ है; उन उन पुराणों में उस अवतार का सविशेष वर्णन है। अवतारवाद की पुराण व्याख्यायित यह भावना आज हिन्दू धर्म के अन्तस्तल तक प्रविष्ट हो चुकी है।

भक्ति मार्ग की सुगमता एवं भक्ति से ईश्वर प्राप्ति का प्रतिपादन पुराणों का एक अन्यतम महत्त्व है। ईश्वरोन्मुख मनुष्य का समस्त वर्णाश्रम, धर्म, कर्म, उपासना, आदि भक्ति परक हो—यही पुराणों का सन्देश है। ज्ञान एवं वैराग्य का मार्ग अत्यन्त कठिन है किन्तु भक्ति वह सरल धारा है जिसमें सभी आकण्ठ अवगाहन कर सकते हैं। वेद की अपेक्षा पुराणों की सरलता का यह एक बड़ा कारण था। "परमपिता परमात्मा की प्राप्ति के लिए जो साधन वैदिक युग में शुष्क कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में अंकुरित हुआ, वही साधन पुनः उपनिषद् व आरण्यक काल में उपासना का रूप धारण कर पल्लवित हुआ, तदनन्तर वही उपासना पुराण युग में आते आते भगवान् वेदव्यास के मन्द सुगन्ध शीतल मलयानिल-सदृश पदावलियों का आश्रय प्राप्त कर पुराणों में भक्ति के रूप में पुष्पित व फलित हुआ। जिसका सौरभ आज दिग्दिगन्त व्याप्त होकर समस्त मानवों के चतुर्दिक कल्याण की कामना कर रहा है।"[1]

पुराण भारतीय इतिहास के भी प्रामाणिक विश्वकोष हैं। विभिन्न पुराणों में दी गई वंशावलियाँ प्राचीन भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती हैं। मौर्य, आन्ध्र तथा गुप्त नरेशों की वंशावलियों का कथन तत्तत पराण में किया जा चुका है। 'अनेक भारतीय

---

1. उप्रैति, थानेशचन्द्र—विष्णु पुराण—प्रथम भाग—भूमिका, पृष्ठ 94.

एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास के जिस कालखण्ड को अन्धकार युग का नाम दिया था, उस पर भी पुराणों के द्वारा नूतन प्रकाश पड़ा है। अब तो यह सिद्ध हो चुका है और ऐतिहासिकों ने भी यह मान लिया है कि मध्यकालीन भारतीय इतिहास की श्रृंखला पुराणों के ही द्वारा बैठ सकती है।' अतः इतिहास ज्ञान की दृष्टि से पुराणों की महत्ता स्पष्ट है।

भारतीय भूगोल की दृष्टि से भी पुराण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टिगोचर होते हैं। पुराणों में समस्त विश्व का भूगोल भी वर्णित हैं किन्तु उसमें कल्पना का ही प्राधान्य है। विभिन्न पुराणों में भारतवर्ष का जो भौगोलिक वर्णन किया गया है, वह अत्यधिक यथार्थ है। पुराणों में किए गए विभिन्न तीर्थस्थलों, नदियों, पर्वतों, जनपदों तथा नगरों के वर्णन से भारत की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का उचित परिज्ञान हो जाता है।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से पुराणों की उपादेयता प्रत्यक्ष ही है। भारतीय संस्कृति के सभी मूल तत्त्वों का इनमें सुन्दर विवेचन प्राप्त होता है। वर्णाश्रम धर्म, संस्कार, पंच महायज्ञ, राजधर्म, प्रजाधर्म, नीति एवं अनुशासन, पारिवारिक सम्बन्ध आदि का प्रत्येक पुराण में अनेकशः कथन किया गया है। इसके अतिरिक्त पुराणों का शास्त्रीय महत्त्व भी न्यून नहीं हैं। काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, दर्शन आदि अनेक शास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन पुराणों में उपलब्ध होता है।

पुराणों की एक अन्य भूयसी विशिष्टता है—उनकी आख्यानात्मक, अलंकृत तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन शैली। पुराणों की इस असामान्य रोचक शैली ने ही अत्यन्त संक्षेप का विपुल विस्तार किया। यह साधारण लोकानुभव से सिद्ध है कि कथा के रूप में वर्णन करने पर कठिन से कठिन अर्थ भी सुबोध एवं गम्य हो जाता है। पुराणों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को उपयोग में लाकर प्रत्येक तत्त्व को हृदयंगम कराने के लिए आख्यानों की रचना की। अतिरंजना से युक्त अनेक पुराणस्थल काव्यों के सदृश आनन्द देते हैं।

महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने पुराणों के महत्त्व का इस प्रकार उद्घाटन किया है—"पुराण आर्य जाति के सर्वस्व हैं। इन्हें आर्य-साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रासाद के आधारस्तम्भ, प्राचीन इतिहास-मन्दिर के स्वर्णकलश, विविध विज्ञान समुद्र में तैरने वाले जहाज के प्रकाश स्तम्भ, सनातन धर्मरूप शामियाने की डोरियाँ, मानव समाज को संस्कृति का पथ प्रदर्शन करने वाला दिव्य प्रकाश तथा आर्यजाति की अनादिकाल से संचित विभाओं की सुदृढ़ मंजूषाएँ कहा जाए, तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी।"[1]

अन्ततः संस्कृत साहित्य का यह समृद्ध अंग—पुराण ग्रन्थ—विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न क्षेत्रों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी अपने प्राप्तव्य सम्मान को प्राप्त नहीं कर सका है। पुरातन होने पर भी नित्य नवीन ये पुराण ग्रन्थ अतिशयोक्ति-वर्णनों के कुहासे में इस प्रकार घिर गए कि उनके सम्यक् परिष्कार, शोधन एवं सम्पादन का महद् कार्य किसी ने ग्रहण नहीं किया। यदि इस पुराण साहित्य का सम्यक् अनुशीलन किया जा सके, तो इस भौतिकतावादी युग में मनुष्य को दृढ़ मनोबल एवं सरस शिक्षा अवश्य प्राप्त हो सकेगी।

■

---

1. चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा—पुराण परिशीलन—पृष्ठ 1

ग्रन्थ नामानुक्रमणिका